स्वर्गवासी साधुचरित श्रीमान् डालचन्दजी सिंघी



बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघीके पुण्यश्लोक पिता

जन्म वि. सं. १९२१ माग वदि ६ 卐 स्वर्गवास वि. सं. १९८४ पोष सुदि ६

दानशील-साहित्यरसिक-संस्कृतिप्रिय

स्व० बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी



अजीमगंज-कलकत्ता

जन्म ता. २८-६-१८८५]　　　　[मृत्यु ता. ७-७-१९४४

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[ग्रन्थांक ४३]

पूर्वाचार्यविरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति – संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)



SINGHI JAIN SERIES

[NUMBER 43]

JAYAPĀYADA NIMITTAŚĀSTRA

(A WORK OF THE SCIENCE OF PROGNOSTICS MAKING PROPHESIES ON THE BASIS OF THE LETTERS OF SPEECH)

कलकत्ता निवासी

साधुचरित-श्रेष्ठिवर्य श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी पुण्यस्मृतिनिमित्त

प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथात्मक-इत्यादि विविधविषयगुम्फित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर,-राजस्थानी आदि नानाभाषानिबद्ध सार्वजनीन पुरातन वाङ्मय तथा नूतन संशोधनात्मक साहित्य प्रकाशिनी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद्-डालचन्दजी-सिंघीसत्पुत्र

स्व० दानशील-साहित्यरसिक-संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी



प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिनविजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

*

ऑनररी डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

ऑनररी मेंबर जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (दक्षिण), गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात), विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होशियारपुर (पंजाब)

*

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

प्रकाशनकर्ता-

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र-शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन, बम्बई

प्रकाशक-जयन्तकृष्ण ह. दवे, ऑनररी डायरेक्टर, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई, नं ७

मुद्रक-लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, निर्णयसागर प्रेस, २६-२८ कोल्भाट स्ट्रीट, बम्बई, नं २

पूर्वाचार्य विरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति – संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)

जेसलमेरुदुर्गस्थ - प्राचीनजैनग्रन्थभाण्डागारोपलब्ध
ताडपत्रीयपुस्तकानुसार

संपादनकर्ता

आचार्य, जिनविजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

ऑनररी मेंबर – जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी; भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, (दक्षिण); गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात); विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होंसियारपुर (पंजाब)

...

ऑनररी डायरेक्टर
राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

...

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर – भारतीय विद्याभवन, बम्बई



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

विक्रमाब्द २०१४] प्रथमावृत्ति–५०० प्रति [ख्रिस्ताब्द १९५८

ग्रन्थांक ४२]

[मूल्य रू० ६)५०

कलकत्ता निवासी

साधुचरित-श्रेष्ठिवर्य **श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी** पुण्यस्मृतिनिमित्त

प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथात्मक-इत्यादि विविधविषयगुम्फित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर,-राजस्थानी आदि नानाभाषानिबद्ध सार्वजनीन पुरातन वाङ्मय तथा नूतन संशोधनात्मक साहित्य प्रकाशिनी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद्-डालचन्दजी-सिंघीसत्पुत्र

स्व० दानशील-साहित्यरसिक-संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी





प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिनविजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

*

ऑनररी डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

ऑनररी मेंबर जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (दक्षिण), गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात), विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होशियारपुर (पञ्जाब)

*

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

प्रकाशनकर्ता-

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र-शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन, बम्बई

प्रकाशक-जयन्तकृष्ण ह. दवे, ऑनररी डायरेक्टर, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई, नं ७

मुद्रक-लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, निर्णयसागर प्रेस, २६-२८ कोलभाट स्ट्रीट, बम्बई, नं २

पूर्वाचार्य विरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

प्रथमावृत्ति – संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)

जेसलमेरुदुर्गस्थ - प्राचीनजैनग्रन्थभाण्डागारोपलब्ध
ताडपत्रीयपुस्तकानुसार

संपादनकर्ता

आचार्य, जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

ऑनररी मेंबर – जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, (दक्षिण); गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात); विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होंसियारपुर (पंजाब)

...

ऑनररी डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

...

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर – भारतीय विद्याभवन, बम्बई



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

विक्रमाब्द २०१४] प्रथमावृत्ति–५०० प्रति [खिस्ताब्द १९५८

ग्रन्थांक ४३]

[मूल्य रू० ६)६०

SINGHI JAIN SERIES

Works in the Series already out.

॥ अद्यावधि मुद्रितग्रन्थनामावलि ॥

१ मेरुतुङ्गाचार्यरचित प्रबन्धचिन्तामणि मूल संस्कृत ग्रन्थ.
२ पुरातनप्रबन्धसंग्रह बहुविध ऐतिह्यतथ्यपरिपूर्ण अनेक निबन्ध संचय.
३ राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोश.
४ जिनप्रभसूरिकृत विविधतीर्थकल्प.
५ मेघविजयोपाध्यायकृत देवानन्दमहाकाव्य.
६ यशोविजयोपाध्यायकृत जैनतर्कभाषा.
७ हेमचन्द्राचार्यकृत प्रमाणमीमांसा.
८ भट्टाकलङ्कदेवकृत अकलङ्कग्रन्थत्रयी.
९ प्रबन्धचिन्तामणि – हिन्दी भाषांतर.
१० प्रभाचन्द्रसूरिरचित प्रभावकचरित.
११ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायरचित भानुचन्द्रगणिचरित.
१२ यशोविजयोपाध्यायविरचित ज्ञानबिन्दुप्रकरण.
१३ हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश.
१४ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग.
१५ हरिभद्रसूरिविरचित धूर्ताख्यान. (प्राकृत)
१६ दुर्गदेवकृत रिष्टसमुच्चय. (प्राकृत)
१७ मेघविजयोपाध्यायकृत दिग्विजयमहाकाव्य.
१८ कवि अब्दुल रहमानकृत सन्देशरासक. (अपभ्रंश)
१९ भर्तृहरिकृत शतकत्रयादि सुभाषितसंग्रह.
२० शान्त्याचार्यकृत न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति.
२१ कवि धाहिलरचित पउमसिरीचरिउ. (अप०)
२२ महेश्वरसूरिकृत नाणपंचमीकहा. (प्रा०)
२३ श्रीभद्रबाहुआचार्यकृत भद्रबाहुसंहिता.
२४ जिनेश्वरसूरिकृत कथाकोषप्रकरण. (प्रा०)
२५ उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदयमहाकाव्य.
२६ जयसिंहसूरिकृत धर्मोपदेशमाला. (प्रा०)
२७ कोऊहलविरचित लीलावई कहा. (प्रा०)
२८ जिनदत्ताख्यानद्वय. (प्रा०)
२९ स्वयंभूविरचित पउमचरिउ. भाग १ (अप०)
३० ,, ,, ,, २
३१ सिद्धिचन्द्रकृत काव्यप्रकाशखण्डन.
३२ दामोदरपण्डित कृत उक्तिव्यक्तिप्रकरण.
३३ भिन्नभिन्न विद्वत्कृत कुमारपालचरित्रसंग्रह.
३४ जिनपालोपाध्यायरचित खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि.
३५ उद्द्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा. (प्रा०)
३६ गुणपालमुनिरचित जंबुचरियं. (प्रा०)
३७ पूर्वाचार्यविरचित जयपायड-निमित्तशास्त्र. (प्रा०)
३८ भोजनृपतिरचित शृङ्गारमञ्जरी. (संस्कृत कथा)

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr. G. H. Buhler's Life of Hemachandrāchārya.
Translated from German by Dr. Manilal Patel, Ph. D.

१ स्व. बाबू श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ [भारतीयविद्या भाग ३] सन १९४५.
2 Late Babu Shri Bahadur Singhji Singhi Memorial volume. BHARATIYA VIDYA [Volume V] A. D. 1945.
3 Literary Circle of Mahāmātya Vastupāla and its Contribution to Sanskrit Literature. By Dr. Bhogilal J. Sandesara, M. A., Ph. D. (S.J.S.33.)
4-5 Studies in Indian Literary History. Two Volumes. By Prof. P. K. Gode, M. A. (S. J. S. No. 37-38.)

Works in the Press.

॥ संप्रति मुद्यमाणग्रन्थनामावलि ॥

१ विविधगच्छीयपट्टावलिसंग्रह.
२ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, भाग २.
३ विज्ञप्तिसंग्रह विज्ञप्ति महालेख - विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि अनेक विज्ञप्तिलेख समुच्चय.
४ कीर्तिकौमुदी आदि वस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह.
५ गुणचन्द्रविरचित मंत्रीकर्मचन्द्रवंशप्रबन्ध.
६ नयचन्द्रविरचित हम्मीरमहाकाव्य.
७ महेन्द्रसूरिकृत नर्मदासुन्दरीकथा. (प्रा०)
८ कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र-सटीक. (कतिपयअंश)
९ गुणप्रभाचार्यकृत विनयसूत्र. (बौद्धशास्त्र)
१० धनसारगणीकृत-भर्तृहरिशतकत्रयटीका.
११ रामचन्द्रकविरचित-मल्लिकामकरन्दादिनाटकसंग्रह.
१२ तरुणप्रभाचार्यकृत षडावश्यकबालावबोधवृत्ति.
१३ प्रद्युम्नसूरिकृत मूलशुद्धिप्रकरण-सटीक
१४ हेमचन्द्राचार्यकृत छन्दोऽनुशासन
१५ स्वयंभुकविरचित पउमचरिउ. भा० ३
१६ ठक्कुर फेरुरचित ग्रन्थावलि (प्रा०)

जेसलमेरमें प्राप्त प्रतिके आद्य पत्र

जेसलमेरमें प्राप्त ताडपत्रीय प्रतिके अन्तिम पत्र

किञ्चित् प्रास्ताविक

*

प्रस्तुत **जयपायड**† नामक निमित्त शास्त्रकी ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति हमको जेसलमेरके एक ज्ञान भण्डारमें प्राप्त हुई थी। इससे पूर्व, हमारे दृष्टिगोचर यह ग्रन्थ नहीं हुआ था, इसलिये हमने इसकी प्रतिलिपि करवा ली, और फिर इसका विषयावलोकन करनेसे हमें यह एक महत्त्वकी रचना ज्ञात हुई, अतः इसको इस सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित करनेका हमने संकल्प किया।

जेसलमेरमें प्राप्त यह ताडपत्रीय पुस्तिका, जैसा कि इसके अन्तमें लिखा हुआ है—विक्रम संवत् १३३६ में लिखी गई थी अर्थात् आजसे कोई ६८० वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। इस पुस्तिकाके कुल मिलाकर २२७ ताडपत्र हैं। अक्षर सुवाच्य हैं; पर कहीं कहीं स्याही घिस जानेसे अक्षर अदृश्यसे हो गये हैं। लिपिकर्ता विषय और भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण प्रतिका पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्टस्वरूप-वाला लिखा गया है।

ग्रन्थको प्रेसमें छपनेके लिये देना निश्चित हुआ तब इसका कोई दूसरा प्रत्यन्तर कहीं से मिल सके तो पाठसंशोधनमें विशेष सहायक हो सके इस विचारसे, पूना, पाटण, अहमदाबाद, बडोदा आदिके प्रसिद्ध जैन भण्डारोंमें इसकी खोज की गई, पर उसमें सफलता नहीं मिली। पीछेसे भावनगरके भण्डारमें एक कागज पर लिखी प्रति प्राप्त हुई, पर, वह जेसलमेरवाली प्रतिसे भी अधिक भ्रष्ट पाठवाली निकली; अतः संशोधनमें उसका कोई खास उपयोग नहीं हुआ। तब हमने केवल उक्त भ्रष्ट पाठवाली प्रतिके उपरसे ही यथामति पाठ संशोधन आदि करके प्रस्तुत आवृत्तिको, इस स्वरूप में प्रकट कर देनेका प्रयत्न किया है।

ग्रन्थके अवलोकन मात्रसे ही विशेषज्ञ विद्वानको ज्ञात हो जायगा कि इसका पाठसंशोधन करनेमें हमको कितना श्रम उठाना पडा है। पुस्तिकाकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति भ्रष्ट पाठवाली प्रतीत हो रही है। न मालूम मूलप्रति लेखककी अज्ञानताके कारण ऐसा पाठभ्रष्ट हुआ है अथवा किसी भ्रमवश ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा गया है। ग्रन्थगत विषय बहुत ही गोपनीय माना जाता रहा है। कोई विरल ही व्यक्ति इसका अध्ययन-मनन कर सके—ऐसी रहस्यमयी भावना, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके विषयमें प्राचीन कालसे चली आ रही है; अतः इसकी दुर्लभता और अप्रसिद्धि स्वाभाविक है।

ग्रन्थका विषय निमित्तशास्त्रान्तर्गत प्रश्नविद्या विषयक है। अतः इस रचनाका अन्य नाम **प्रश्न-व्याकरण** ऐसा दिया गया है। प्रश्नचूडामणी, प्रश्नप्रकाश आदि नामके इस विषयके कई प्राचीन ग्रन्थोंका उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसी आवृत्तिके अन्तमें **ज्ञानदीपक** नामक एक संक्षिप्त चूडामणिसार शास्त्र भी मुद्रित किया गया है जो इसी विषयकी एक संक्षिप्त रचना है। यह रचना भी हमें जेसलमेरके एक भण्डारमें फुटकल पत्रोंमें मिली है।

*

---

† जेसलमेरमें जो पुस्तिका प्राप्त हुई उसकी पट्टिकापर 'जयपाहुड' ऐसा नाम लिखा हुआ था इसलिये हमने ग्रन्थके मुद्रणमें मुख्य शिरोरेख इसी नामसे अंकित कर दिया; पर पीछेसे ऊहापोह करने पर 'जयपाहुड' नहीं परंतु 'जयपायड' ऐसा नाम समुचित मालूम दिया। अतः हमने मुखपृष्ठ पर इसी नामका उपयोग करना उचित समझा है। मूल ग्रन्थकी तीसरी गाथामें इसी शब्दका प्रयोग किया गया है

हमारे पूर्वज मनीषियोंने अज्ञात तत्त्वों और भावोंको जाननेके लिये एवं कई प्रकारकी गूढ विद्याओंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, नाना प्रकारके चिंतन, मनन और निदिध्यासन किये हैं। इनके फलस्वरूप जो ज्ञातव्य उन्हें प्राप्त हुए उनको वे संक्षेपमें एवं सूत्ररूपमें ग्रथित करके ग्रन्थ या प्रकरणके रूपमें निबद्ध करते रहे जिससे भावी सन्ततिको उसका ज्ञान प्राप्त होता रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ एक ऐसे ही अज्ञात तत्त्व और भावोंका ज्ञान प्राप्त करने-करानेका विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या विद्वान्को अच्छी तरह अवगत हो, वह इसके आधारसे, किसी भी प्रश्नकर्ताके लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि की बातोंके विषयमें बहुत निश्चित और तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और प्रश्नकर्ता को बता सकता है।

प्राचीन ब्राह्मी लिपि, जो हमारी भारतीय लिपियोंकी माता या मूल प्रकृति मानी जाती है, उसकी वर्णमाला या अक्षरमातृकामें मुख्य रूपसे ४५ अक्षर हैं। इनमें

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः

ये १२ स्वर हैं, और–

क	ख	ग	घ	ङ	– क वर्ग
च	छ	ज	झ	ञ	– च वर्ग
ट	ठ	ड	ढ	ण	– ट वर्ग
त	थ	द	ध	न	– त वर्ग
प	फ	ब	भ	म	– प वर्ग
य	र	ल	व		– य वर्ग
श	स	ष	ह		– श वर्ग

इस प्रकार ७ वर्गोंमें विभक्त ३३ व्यंजन हैं। १२ स्वरोंका १ वर्ग है जिसकी संज्ञा 'अ' है। बाकीके ३३ व्यंजनोंकी 'क. च. ट. त. प. य. श' इस प्रकार क्रमशः ७ संज्ञाएं हैं।

इस प्रकार संपूर्ण वर्णमाला ८ वर्गोंमें विभक्त की गई है। प्रस्तुत शास्त्रमें इन वर्गगत अक्षरोंके अनेक प्रकारके भेद – उपभेद बताये गये हैं। ये अक्षर अनेकानेक गुण और धर्मोंके वाचक और सूचक हैं। प्रत्येक अक्षर विशिष्ट प्रकारके स्वभाव और स्वरूप का सूचक है और फिर वह जब किसी दूसरे अक्षरके संयोगमें आता है तब, वह उस संयोगके कारण और भी अनेक प्रकारका स्वभाव और स्वरूप बतलानेवाला बन जाता है। अक्षरोंके स्वभाव और स्वरूपका निदर्शन करानेके लिये अभिधूमित, आलिंगित, दग्ध आदि संज्ञाएं बताई गई हैं। इन अक्षरोंमें कुछ अक्षर जीवसंज्ञक हैं, कुछ धातुसंज्ञक हैं और कुछ मूलसंज्ञक हैं। इस प्रकार कई तरहसे अक्षरोंके स्वभाव, गुण और धर्मोंका प्रतिपादन इस शास्त्रमें किया गया है। यह एक बहुत विलक्षण और अद्भुत रहस्यमय शास्त्र है इसमें कोई शंका नहीं है।

प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें इस रहस्यमय अतिशयात्मक शास्त्रीय विषयका उल्लेख बहुत जगह मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालके जैन आचार्य इस विषयका बहुत ही विशिष्ट ज्ञान रखते थे। इस विषयका निरूपण करनेवाले छोटे-मोटे अनेक ग्रन्थ एवं प्रकरण जैनाचार्यों द्वारा बनाए गये प्रतीत होते हैं जो प्रायः अब विलुप्त-से हो रहे हैं।

इस विषयके ज्ञाताओं और शास्त्रकारोंका अभिमत है कि जिन अज्ञात और गूढ तत्त्वोंका परिज्ञान, सर्वज्ञ केवलज्ञानी अपने आध्यात्मिक अन्तरज्ञान द्वारा अनुभूत कर सकता है वैसा ही परिज्ञान, इस शास्त्रका विशिष्ट ज्ञाता, इस शास्त्र द्वारा अनुभूत कर सकता है और इस लिये इस विषयके शास्त्रको 'अर्हच्चूडामणि,' 'केवली चूडामणि,' 'केवली परिज्ञान' आदि नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है।

इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली बहुत कुछ साहित्यिक सामग्री हमारे पास संग्रहीत हो गई है; पर उसका विस्तृत रूपसे आलेखन करनेका यथेष्ट अवकाश हमें प्राप्त नहीं हो रहा है। अतः अभी तो हमने इस ग्रन्थको, इस प्रकार, केवल मूल रूपमें ही प्रकट कर देनेका यत्न किया है, जिससे इस विषयके जिज्ञासुओंको इस शास्त्रका कुछ आभास प्राप्त हो सके।

इसकी पुनरावृत्ति, विशिष्ट रूपसे करनेका हमारा मनोरथ है; जिसके साथ इस प्रकारकी कुछ अन्य रचनाएँ भी संकलित की जायेंगी और इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली अनेक तथ्यपूर्ण बातें भी आलेखित की जायेंगी।

विजयादशमी, संवत् २०१४
(२१, अक्टूबर, १९५८)
अनेकान्तविहार, अहमदाबाद

– मुनि जिन विजय

जयपायड निमित्तशास्त्रगत विषयानुक्रम



प्रश्नव्याकरणाख्यं

जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम् ।

॥ ॐ नमः सर्वज्ञाय ॥

*

करकमलकलितमौक्तिकफलमिव कालत्रयस्य विज्ञानम् ।
यो वेत्ति लीलयैव हि, तं सर्वज्ञं जिनं नमत ॥ १ ॥

ग्रन्थकृत्(ता?) प्रश्नाख्यस्य जयपाहुडस्य निमित्तशास्त्रस्यारम्भे अशेषदुरितप्रक्षयार्थं चाभिप्रेतार्थप्रसिद्ध्यर्थमिष्टदेवतानमस्कार(रः)कर्त्तव्यः । तदर्थमाह —

सिद्धमरूयमणिंदियमकि(क)यमणवन(ज्ज)मच्चुयं वीरं ।
णमिऊण सयलतिहुयणमत्थयचूडामणी(णिं) सिरसा ॥ १ ॥

वीरं शिरसा प्रणम्येति । किंविशिष्टमन्तमुच्यते — सिद्धं । तत्र शुभाशुभकर्मविमुक्तः [प० १, पा० २] सिद्धः । नास्य रूपं विद्यत इत्यरूपः । रूपं सु(शु)क्ल-कृष्णाद्यात्मकम् । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि शब्दाद्यर्थविषये न प्रवर्त्तत(न्ते) इत्यनीन्द्रियम् । न कृ(क्रि)यत इत्यकृतकः, द्रव्यरूपेण नित्यत्वात् । नाद्यधमनवद्यः । अवद्यं पापम्, अपापं अगर्ह्य इत्यर्थः । न स्वभावात् प्रच्यवति इत्युच्य(त्यच्यु)तः । अशेषकर्मविदारणाद् वीरः । वीरो देवताविशेषः । तं शिरसा प्रणम्येति सम्बन्धोऽयम् । अथवा यं न(?) एव सिद्धः अत एवासावरूपी अनिन्द्रिय अकृतक अनवद्य अच्युतः वीरः इति बभूय(व) स एव सकलत्(त्रि)भुवनमस्तकचूडामणि[ः] लोकाग्रे [प० २, पा० १] निवासित्वात् । अतस्तं देवताविशेषं महावीराख्यं सि(शि)रसा प्रणम्य प्रश्नव्याकरणं शास्त्रं व्याख्यामीति वाक्यशेषाध्याहार्यमिति । आराद्उपकारित्वात् ॥ १ ॥

सुयदेवयं पणमिमो, जस्स पसाएण गहियव(ध)रियस्स ।
सुत्तस्स अत्थपरिमियसपा(मा?)द्दरो तीरए काउं ॥ २ ॥

श्रुतं सास्त्र(शास्त्रं) ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । तदेतत् श्रुतं देवता श्रुतदेवता । तां श्रुतदेवतां प्रणता(मा)मि । यस्याः प्रसादेन । प्रसाद इत्यनुग्रहोऽभिमुखपरितोष इत्यु[च्य]ते । गृहीतस्य घृ(धृ)तस्य च तस्य सूत्रस्यार्थः । सूत्रार्थः प्रास्यादरः शक्यते कर्तुमिति ॥ २ ॥

मइमाह[प० २, पा० २]प्पुप्पायं, भुवणब्भंतरपवंत(वत्त)वावारं ।
अइसयपुण्णं णाणं, पण्हं जयपायडं वोच्छं ॥ ३ ॥

मति(तिः) बुद्धि(द्धिः) प्रज्ञेति पर्यायाः । बुद्धिप्रभावोत्पत्तिभूतमित्यर्थः । कस्तस्या बुद्धे(द्धेः) प्रभावः । नष्ट-मुष्टिचिन्ता-लाभालाभ-सुख-दुःख-जीवित-मरणाभिव्यञ्जकत्वम् । किञ्च भुवनाभ्यन्तरप्रवृत्तव्यापारम् । व्यापारस्तद्गतपदार्थोपलम्भनम् । अतिस(श)यपूर्णं ज्ञानम् । यदन्यसा(शा)-

स्त्रानुपलब्धं सोऽतिस(श)यः । अतिर्यं(शय)ज्ञानं निमित्तशास्त्रात्यु(दु)पलभ्यत इत्यतिस(श)यः । अतीतानाग[त]वर्त्तमाननिमित्ताद्यनेकप्रकारं नष्ट-मुष्टिचिन्ताविकल्पाद्यतिस(श)यपूर्णं प्रश्नज्ञानं जर्ग[प० ३, पा० १]त्प्रकटने हेतुभूतं जगत्प्रकटनं व्याख्यामीति ॥ ३ ॥

अ क च ट त प य श पुव्वे, वग्गो लक्खेज्ज पण्हमादीए ।
उत्तरधरा य तेसिं, जाणे वग्गक्खरसराणं ॥ ४ ॥

इह शास्त्रे द्विधा वर्गक्रमः उक्त(क्तः) । अष्टवर्गी क्रम(मः) पञ्चवर्गी क्रमश्चेति । कथं एतत् । तथा शास्त्रे व्यवहारदर्शनात् । तत्रायमत्राष्टवर्गक्रमः — 'अ क च ट त प य श' इत्येतेऽष्टौ प्रथमा वर्णा वर्गाणां सूचका इति । प्रश्ना(श्ना)यामादौ प्रश्ना(श्न)मातृकायां वा मात्रिकेत्यनेकार्थोपसङ्ग्रह-त्वात् । वर्गाणां अक्षराणां स्वराणां च उत्तरत्वमधरत्वं च वक्ष्यमाणं अवगच्छ ॥ ४ ॥

जेत्तियमित्ते सक्को, [प० ३, पा० २] घेत्तुं पण्हक्खरे परमुहाओ ।
ते सव्वे ठावेउं, तेसिं पढमक्खरपाहुदिं ॥ ५ ॥

यावन्मात्रान् प्रश्नाक्षरान् परमुखात्तु(द्) ग्रहीतुं शक्तः नैमित्तिकः । ते सर्वे स्थापयितव्याः प्रथमाक्षरात् प्रभृति तेषामक्षराणाम् ॥ ५ ॥

संजुत्तमसंजुत्तं, अणभिहयं अभिहयं च जाणित्ता ।
आलिंगियाभिधूमिय, दड्ढाणि य लक्खए तेसिं ॥ ६ ॥

तेषां वाक्याक्षराणां पूर्वस्थापितानां संयुक्तमसंयुक्तं इति । तत्र संयोगोऽनेकधाऽभिधास्यति । स्वकाय-स्ववर्ग-परवर्ग इति । स्वभावस्थो वर्णोऽसंयुक्तः । तथाभिघातो वक्ष्यमाणकस्त(त्रि)-विधः [प० ४, पा० १] । आलिङ्गित-अभिधूमित-दग्धलक्षणः । अनभिहतः अभिघातः(त)रहित-मे(श्चे)ति ॥ ६ ॥

मोत्तो(त्तु) पढमालावं, णेमित्ती अप्पणो य पडिपण्हं ।
सेसेसु जीवमादीपरिचिंत्तं वागरे मइमं ॥ ७ ॥

पृच्छकस्य सम्भाषणादिकं प्रथमालापं मुक्त्वा प्रश्न(श्न)शास्त्रवित् प्रतिप्रश्ना(श्ना)यात्मीयां(यं) च मुक्त्वा अन्यस्मात् प्रश्नं(श्नं) गृहीत्वा बाल-मूर्ख-स्त्रीणां प्रथमवाक्यमेव प्रगृह्य जीव-मूल-धात्व[क्ष]राणा(णां) त्रयाणां येऽधिकसंख्यास्तेजी(र्जी)वधातुमूलयोनि निर्देश्यम् ॥ ७ ॥

पढमो य सत्तमसरो, क च ट त प य शा य पढमओ वग्गो ।
बिदि-अट्ठमसरसहिया, ख छ ठ था[प० ४, पा० २]फ र पा वितीओ य ॥८॥

पंच-वर्गक्रम इदानीं कथ्यते—अकारः प्रथमः स्वरः । एकारः सप्तमः स्वरः । 'क च ट त प य श' सहितौ प्रथमो वर्गः । आकारो द्वितीयः स्वरः । ऐकारोऽष्टमः स्वरः । 'ख छ ठ थ फ र ष' समेतौ द्वितीयो वर्गः ॥ ८ ॥

तइओ णवमेण समं, ग ज ड द ब ल सा य तइयओ वग्गो ।
चउ-दसमसरेण समं, घ झ ढ ध भ व हा य चउत्थो उ ॥ ९ ॥

इकारस्तृतीयः । उ(ओ)कार(रो) नवमः । 'ग ज ड द ब ल स' सहितौ तृतीयो वर्गः । ईकारश्चतुर्थः । औकार(रो) दशमः । 'घ झ ढ ध भ व हां(ह)' समेतौ चतुर्थो वर्गः ॥ ९ ॥

अणुणासिया य [प० ५,पा० १] पंच वि, पंचम-छट्ठा सरा य बोधव्वा ।
दो चरिमसरा य तहा, पण्हक्खरमूलवत्थुस्स ॥ १० ॥

'ङ ञ ण न माः' पञ्च अनुनासिकाः । 'उ ऊ' पञ्चमषष्ठौ । 'अं अः' द्वौ चरिमस(स्व)रौ भवतः । एते पंच वर्गाः प्रश्नाक्षरमूलवस्तुनि ॥ १० ॥ **वर्गरचना समाप्ता ॥**

इदानीं जीव-धातु-मूलाक्षराणां विभागोपदर्शनार्थमाह—

आइल्ला तिण्णि सरा, सत्तम णवमो य बारसे जीवं ।
पंचम-छट्ठ-सरस्स[य], धाउं सेसेसु तिसि(सु) मूलं ॥ ११ ॥

आद्याः स्वरास्त्रय 'अ आ इ' । सप्तम 'ए'कारः । नवम 'ओ'कारः । 'अः' द्वादशमः । एते षट् स्वराः जीवस्वराः वि[प० ५,पा० २]ज्ञेयाः । 'उ'कार[ः] पंचमः । 'ऊ'कारः षष्ठः । 'अं' एकादशमः । त्रय एते धातुस्वराः । चतुर्थ 'ई'कारः । दशम 'औ'कारः । 'ऐ'कारोऽष्टमः । एते त्रयोमूलस्वराः ॥ ११ ॥

क च ट चउक्के जीयं, अट्ठम-पढमंतिमे यकारे य ।
त प [य ?] चउक्के धाउं, व से य मूलं तु सेसेसु ॥ १२ ॥

'क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ' इत्येते पूर्वनिर्दिष्टा[ः] प्रथमवर्गस्य । अष्टमः स(श)का-[प० ६,पा० १]रः, अस्मान्तो हकारः, यकारश्च । जीवाक्षरा एते । 'त थ द ध, प फ ब भ' इत्येतेऽष्टौ । वकारः सकारश्चेत्येते धात्वक्षराः । ङ ञ ण न मा[ः] तथा रकारः, लकारः, षकारश्च इत्येते मूलाक्षरा(राः) ॥ १२ ॥

जीवाद्यक्षराणामुपसंग्रहार्थं स्वराणां गाथामाह—

जीवक्खरेक्कवीसा, तेरह धाउक्खरा मुणेयव्वा ।
एयारस मूलगया, पणयाला होंति सव्वे वि ॥ १३ ॥ [प० ६,पा० २]

पूर्वनिर्दिष्टाः स्वराः षट् 'अ आ इ ए उ अः, क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, य श हा' एते जीवाक्षराः एकविंशतिः २१ । पूर्वोक्ता धातुस्वरास्त्रयः 'उ ऊ अं' दश चान्ये 'त थ द ध प फ ब भ व सा' एते धात्वक्षरास्त्रयोदश १३ । 'ई ऐ औ, ङ ञ ण न मा; र ल षा' एते मूलाक्षराः एकादश ११ । जीव-धातु-मूलसमेताः पंचचत्वारिंस(श)दक्षराणि भवन्ति ॥ १३ ॥ [प० ७,पा० १]

पढमस(स्स)रसंजुत्ता, सव्वे लहुअक्खरा य अणभिहया ।
इच्छंति जीवचिंता मि(म)त्तासु विवज्जिया जाव ॥ १४ ॥

उत्सर्गसिद्धानां जीवाद्यक्षराणामपवादः । अकारः प्रथमस्वरः येषामक्षराणामन्तर्भूतः, ते जीवाक्षराः प्रथमस्वरसंयुक्ताः । अथवा अकारेण युक्ताः 'क च ट य श ग ज डा' एते(ते)ऽष्टौ लघ्वक्षराः अनभिहता मात्रारहि[प० ७,पा० २]ताश्च जीवचिन्तां कथयन्ति । अनुक्ता अपि धातु-

(तु)मूलचिन्ताख्यो गाथाया[म]न्तर्भूताख्ये चेत्युच्यन्ते । 'त द प व स' इत्येते पंच धात्वक्षराः अनभिहताः लघवो मात्रारहिताश्च जीवधातुचिन्तां कथयन्ति । लकार एक एव मूलाक्षरो लघुः । अनभिहतो मात्राविवर्जितः स सजीवमूलचिन्तां कथयति ॥ १४ ॥

मत्तासु जो विअप्पो, जो वि य आलिंगिओ वि अभिघाओ ।
तं सव्वं वण्णेहं, जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥ १५ ॥

मात्रासु यो विकल्प इति वक्ष्यमाणोपन्यासार्थगाथा । विकल्पग्रहणेन मात्राभेद उच्यते । स ए[वं] तिर्यग्मात्रा अधोमात्रा इति । [प० ८, पा० १]आलिंगिताभू(भि)धूमितदग्धलक्षणोपघाता[त] द्(त्रि)धा । तदेतत् सप्रपंचं यथाक्रममानुपूर्व्या कथयिष्यामः ॥ १५ ॥

पढमो तइओ य सरो, सत्तम णवमो य तिरियमायाओ ।
मूलसर उद्ध(ड्ढ)मत्ता, पंचम-छट्ठा अहोमत्ता ॥ १६ ॥

अकारः प्रथमः स्वरः, इकारः तृतीयस्वरः, एकारः सप्तमस्वरः, ओकारो नवमस्वरः—एते चत्वारः स्वरास्तिर्यग्मात्राः । एतेषु मूलयोनौ लब्धायां तिर्यग्लतायां वल्यां(ह्यां) शाखायां वा संबन्धि मुष्टिगृहीतं किमपि कथयन्ति । नष्टप्रश्नेऽप्यन्तरीक्षतिर्यग्भागस्थितद्रव्यमेत एव स्वराः कथयन्ति । ईकारश्चतुर्थः, ऐकारोऽष्टमः, औकारो दशमः । [प० ८, पा० २] एते त्रयः स्वरा ऊर्द्ध्वमात्राः । मूलयोनौ लब्धायां वृक्षस्योर्द्ध्वभागसंबन्धि किमपि मुष्टिगृहीतं कथयन्ति । नष्टप्रश्ने ऊर्द्ध्वभागस्थितद्रव्यमेते त्रयः स्वराः कथयन्ति । पंचमः उकारः, षष्ठः ऊकारः, एतौ द्वौ स्वरौ अधोमात्रौ मूलयोनौ लब्धायां वृक्षस्याधोभागसंबन्धि किमपि मुष्टिग(गृ)हीत(तं) कथयत(तः) । नष्टप्रश्नेऽप्यधोभागव्यवस्थित्रा(त)मेतावेव स्वरौ कथयतः ॥ १६ ॥ [प० ९, पा० १]

जीवाईसट्ठाणं, णियमा द[रि]संति उद्ध(ड्ढ)मत्ताओ ।
व(वि)वरीय अहोमत्ता, णायव्वा जीव-धाऊणं ॥ १७ ॥

ऊर्द्ध्वमात्रा यि(येऽ)भिहतास्त्रयः स्वराः । ते जीवाक्षराणां पंचदशानामुपरिगता जीवमूलसंस्थानं दर्शयन्ति । काष्ठं मूलमुच्यते । तस्मिन्नुत्कीर्णप्राणिगणस्तान्यतमजीवमूलसंस्थानमुच्यते इति । अधोमात्रो(त्रौ) द्वौ स्वरावुक्तो(क्तौ) तौ यदा जीवाक्षरसंयुक्तौ दृश्य(श्ये)ते तदा जीवधातुं दर्शयतः । [प० ९, पा० २] को जीवधातुरित्यत्रोच्यते—सुवर्णरूप्यतांम्रा(ताम्रा)ऽरकूटकांस(स्य)पाषाणादिष्वेवंविधेषु धातुषु(षू)त्कीर्णो जीवाकृतिसंस्थानः सकलप्राणिगणो जीवधातुरित्युच्यते ॥१७॥

मूलक्खरा उ सव्वे, धाउं दंसंति जे अहोमत्ता ।
दंसंति तिरियमत्ता, परपक्खगया उभयपक्खं ॥ १८ ॥

मूलाक्षराः 'ङ ञ ण न म र ल षा' अष्टावेते उक्ता व(अ)धोमात्रा(त्राः) स्वरद्वयसमेता यदा दृश्यन्ते तदा धातुद्रव्यं दर्शयन्ति । तिर्यग्मात्राभि[प० १०, पा० १]हताश्चत्वारो जीवस्वराः, ते मूलाक्षराणामुपरिगता जीवमूलं दर्शयन्ति । जीवमूलस्य आकारः । पूर्वोक्तमेव । धात्वक्षराणामुपरिगताश्चैते यदा जीवस्वराश्चत्वारो दृश्यन्ते तदा जीवधातुं दर्शयन्ति । जीवधातुसंस्थानं चोक्तमेव ॥ १८ ॥

सविसग्ग-बिंदुसहिया, जीवाइ णिदि[द्दि]संति सट्ठाणं ।
अहमत्तलक्खणं पुण, सव्वेसिं सकायगुरुयाणं ॥ १९ ॥

सविसर्ग-बिन्दुसहिता[ः]—विसर्गो द्वादसः(शः) स्वरः, बिन्दुरेकादसः(शः) । [प० १०, पा० २] एतौ द्वौ जीवाक्षरसहितौ जीवयोनिं कुरुतः । यदा च द्वावेतौ स्वरौ मूलाक्षरसहितौ दृश्येते, तदा मूलयोनिं कुर(रु)तः । धात्वक्षरसहितौ धातुयोनिं कुर(रु)तः । अधोमात्रलक्षणग्रहणेन पंच भण्यन्ते । तद्यथा—स्वकायगुरु[ः], स्ववर्गसंयोगः, परवर्गसंयोगः, अर्द्धाक्रान्तं, त्र्यक्षरसंयोगश्चेति । तत्र तावत् स्वकायगुरोर्लक्षणमुच्यते—द्वौ ककारौ संयुक्तौ, द्वौ गकारौ, द्वौ डकारौ, एवं सर्ववर्गेषु व्याख्या । स्वकायगुरवो जीवयोनौ लब्धायां प्रष्टुः स्वकायचिन्तां कथयन्ति । धातुयोनौ लब्धायां [प० ११, पा० १] आत्मार्थे धातुचिन्तां कथयन्ति । मूलयोनौ लब्धायां आत्मार्थे मूलचिन्तां कथयन्ति । स्ववर्गसंयोगस्य लक्षणमुच्यते—खकारस्योपरिगतः ककारः, घकारस्योपरिगतो गकारः, एवं वर्गे द्वौ द्वौ स्ववर्गसंयोगौ भवतः । जीवयोनौ लब्धायां प्रष्टुः स्वबन्धुचिन्तां कथयति(न्ति) । एतौ धातुयोनौ लब्धायां स्वबन्धुकृते धातुचिन्तां कथयन्ति । मूलयोनौ लब्धायां स्वबन्धुकृते मूलचिन्तां कथयन्ति । परवर्गसंयोगस्य लक्षणमुच्यते—गकारस्य उपरिगतः चकार(रः), गकारस्य उपरिगतो जकारः, पकारस्योपरिगतो(तः) सकारः; इत्येवमादयोऽन्येऽपि परवर्गसंयोगा जीवयोनौ लब्धायां [प० ११, पा० २] प्रष्टुः पर[प]क्षचिन्तां दर्शयति(न्ति) । धातुयोनौ लब्धायां परपक्षकृते धातुचिन्तां कथयन्ति । अर्द्धक्रान्तस्य लक्षणमुच्यते—उपरिर्यद्वोधा(उपर्यधोऽ)क्षराणां तुल्यसंख्यया सो अर्द्धक्रान्तमित्युच्यते । निदर्शनं यथा—'क्व-ख्व-म' इत्येवमादयः । चिन्तायां जीवयोनौ लब्धे स्त्री-पुरुषचिन्तां दर्शयन्ति । [प० १२, पा० १] धातुयोनौ लब्धे स्त्रीसंबन्धेन धातुद्रव्यं लभ्यत इत्यादेश्यम् । मूलयोनौ लब्धे स्त्रीसंबन्धेन मूलद्रव्यं लभ्यत इत्यादेश्यम् । त्र्यक्षरसंयोगस्य लक्षणमुच्यते—त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैर्योगः सत्र्यक्षरयोगः । यथा—'त्रि-क्ति-स्वि-स्थि-र्स्वं-त्स्य(?)' एवमादयोऽन्येऽपि जीवयोनौ लब्धायां पृष्टं(प्रष्टुः) [प० १२, पा० २] अपत्यचिन्तां कथयति(न्ति) । मूलयोनौ लब्धायां अपत्यार्थे मूलचिन्तां कथयन्ति । धातुयोनौ लब्धायां अपत्यार्थे धातुचिन्तां कथयति(न्ति) ॥ १९ ॥

अभिहयगुरुअक्खरया, रेफ यकार उ ज(ऊ?)कारसंजुत्ता ।
सव्वे य अहोमत्ता, णायव्वा अप्पहाणा य ॥ २० ॥

'रेफ व(य?)कार उकार ऊकार' एतेषां[प० १३, पा० १]मन्यतमेनाधोगतेन जीवधातुमूलाक्षराणां अन्यतनो(मो)ऽक्षरः संयुक्तमु(क्त उ)च्यते । तैरेवाधोगतैः अभिहत उच्यते । तैरेवाधोगतैरप्रधानमुच्यते । जीवयोनौ लब्धायां यस्य कस्यचिदक्षरस्य तले यदा रेफो दृश्य(श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्यार्थे पृच्छति तस्याधः का[प० १३, पा० २]मे स(श)स्त्रप्रहार आदेश्यः । जीवयोनौ लब्धायां यस्य कस्यचिद् अक्षरस्य तले यदा यकारो दृश्य(श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्यार्थे पृच्छति तस्य स्त्रीनिमित्तं बन्धनमादेश्यम् । जीवयोनौ लब्धायां कस्यचिदक्षरस्य तले उकारो दृश्य(श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्यार्थे पृच्छति तस्य मूलमादेश्यम् । जीवयोनौ लब्धायां यस्य कस्यचिद् अक्षरस्य तले ऊकारो दृश्य(श्य)ते तदा प्रष्टा यस्य कृते पृच्छति तस्य [प० १४, पा० १] दीर्घकालं बन्धनमादेश्यम् । एते चार्था यद्यपि गाथायां नोक्तास्तथाप्येते द(द्र)ष्टव्याः ॥ २० ॥

जाणे संवग्गगरु(गुरु)ए, जोणी जा जस्स अप्पणांतणिय ।
परवग्गक्खरठाए, जो उवरिं तस्स सा जोणी ॥ २१ ॥

जानीहि स्ववर्गाक्षरेणाक्षरो गुरुय(यो)त्र यथा–'क्ख ग्घ' आभ्यां जीवो वक्तव्यः । 'च्छ त्थ' आभ्यां धातुव(र्व)क्तव्यः । 'ङ ञ ण्ह म्म(?)' एवमादिभिर्मूलम् । परवर्गेणापि योऽक्षरो गुरुर्व्य उपरिस्थितस्त[प० १४,पा० २]स्य सा योनिः । निदर्शनं–'ग्व ड्ढ ष्ण(?)' इत्येवमादयो यथासंख्येन जीवधातुमूलानि ॥ २१ ॥

आइल्ला चत्तारि वि, जीवा पयडी हवंति ठाणाइं ।
पंचमछट्ठा धाओ, मूलपयडी य दो चरिमा ॥ २२ ॥

आद्या जीवस्वरा[ः] चत्वारः । 'अ इ ए उ'कारो वर्णागत एवानो(तो) न गृहीतः । एते जीवाक्षराणामुपरिगता नि(निः)[प० १५,पा० १]संस(श)यं जीवमेव दर्शयन्ति । एता(ते) एव जीवस्वराः जीवमकृत्वा धात्वक्षराणामुपरिगता जीवधातुं कुर्वन्ति । मूलाक्षराणामुपरिगता जीव-मूलं दर्शयन्ति । जीवमूल-जीवधात्वोर्लक्षणं प्रागुक्तमिति । पंचम उकार(रः), षष्ठ ऊकारः, एतौ द्वौ धातुस्वरौ धात्वक्षराणामधोगतौ धातुमेव दर्शयतः । [प० १५,पा० २] 'अं' धातुस्वराक्षरिमः केवलो धातुमेव कथयति । 'अः' चरिमो जीवस्वरः केवलो जीवमेव कथयति । पूर्वोक्तानां जीव(वा)क्षराणामुपरिगतो चरिमसंज्ञानुस्वारो जीवमेव कथयति । तत्रस्थस्तदात्मको भवति । धात्व-क्षराणामुपरिगतोऽनुस्वारो धातुमेव कथयति । मूलाक्षरोपरिगतोऽनुस्वारो मूलं दर्शयति । 'अः' चरिमसंज्ञो विसर्ग[ः] जीवाक्षराणामन्यतमस्याग्रस्थित(तो)जीवमुपदर्शयति । धात्वक्षराग्रतो धातुं दर्शयति । मूलाक्षराणामन्यतमस्याग्रतो व्यवस्थितो विसर्गः [मूल]मेव दर्शयति । चरिमसंज्ञत्वं त(त्रि)ष्वपि सर्व[प० १६,पा० १]सं(सं) भवतीति । सामान्ययोनि(निः) समासा ॥ २२ ॥

सी(शि)क्षाक्षरविभागार्थं प्रयोजनत्वाच्च तदुपन्यासः—

उर-कंठ-जीहमूला तालवा तह य उद्धतालवा ।
दंता उट्ठा अणुणासिया य मुचखा(मुद्धक्ख)रा चेव ॥ २३ ॥

नव स्थानानि वर्णानां तथोत्पत्तेः । उरः(उरस्याः), कण्ठ्याः, जिह्वामूलीयाः, तालव्याः, ऊर्ध्वतालव्याः, दन्त्याः, ओष्ठ्याः, अनुनासिकाः, मूर्धन्याश्चेति नवस्थानान्यक्षराणीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

सविसग्गो य अकारो, उकारो (?उरो) इकारो य जो हवइ हस्सो ।
हस्सस(स्स)रा य कंठा, जीहामूला क ख ग घा य ॥ २४ ॥

सर्व(वि)सर्गः, अकारः, इकारश्च, द्वावेतौ उ(र)स्यौ ज्ञातव्यौ । ह्रस्वस्वराः [प० १६,पा० २] अ इ ए उ चत्वारोऽप्येते कण्ठ्याः । 'क ख ग घ' इत्येते चत्वार(रो) जिह्वामूलीयाः ॥ २४ ॥

सत्तट्ठआ(मा)ण पढमा, तालवा च छ ज झा य चत्तारि ।
ट ठ ड ढ बीओ य सरो, हवंति खलु मुद्धतालवा ॥ २५ ॥

प्रथमवर्गस्य सप्तमो यकार(रः), यद्वा सप्तमवर्गस्य प्रथमो यकारः, अष्टमवर्गस्य प्रथमः

श(श)कारः । 'च छ ज झ' इत्येते चत्वारस्तालव्याः । 'ट ठ ड ढ' इत्येते [प० १७,पा० १] चत्वारः, द्वितीयस्वर आकारः, षश्च एते मूर्धन्याः ॥ २५ ॥

त थ द ध सा पु(पु)ण दंता, प फ ब भ धातुस्सरा वकारोष्ठ्या(ष्ठ्या) ।
वग्गचरिमाणुणासी, मुद्धण्णा सेसया सद्दे ॥ २६ ॥

'त थ द ध सा' इत्येते पञ्च दन्त्या[ः] । 'प फ ब भ' इत्येते चत्वार(रः), धातुस्वरौ च द्वौ पञ्चमषष्ठौ उ ऊ, 'व' कारश्च, एतेते ओष्ठ्याः । वर्गचरिमग्रहणेन पञ्चमानुनासिका 'ङ ञ ण न माः' गृह्यन्ते । [प० १७,पा० २]अथवा वर्गग्रहणेनानुनासिकाः, स्वराणां च मध्ये चरिमो ऽनुनासि[को] बिन्दुः, 'अं' इत्येते च षडनुनासिकाः । शेषाः–स्वराः के ते ? 'इ ए ओ' त्रयः । शेषाक्ष(क्षा)क्षराः 'र ळ ष' इत्येते त्रयः । एवम् एते मूर्धन्याः । सि(शि)क्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥ २६ ॥

अत्रायसरप्राप्ता अक्षरच्छिदा, [तां] नामप्रकरणेऽभिधास्यति । इह ति(तु) प्रातिशाख्य-मुच्यते । तदर्थं गा[प० १८,पा० १]थामाह–

ठाणं ठाणं एक्केक्कयं तु आलिंगिधा(या)इ द्दायंति ।
उरसादी ठाणाणं, तालवे उवरिमो ठाइ ॥ २७ ॥

स्थानं स्थानमेकैकमालिङ्गिताभिभूतिसत्क्रमास्तजन्ति । उरस्या निह्वतामालव्ये[न] इत्येवं गत अभिद्दत इति । अभिहतग्रहणेनालिङ्गिताभिभूतिसङ्ग्रहा उच्यन्ते । उरस्यो(उरस्यो)ऽन-भिहतो असंयुक्त उरस्य एव लभते [प० १८,पा० १] अक्षरम् । उरस आलिङ्गितकण्ठस्थानं लभते । उरसोऽभिभूतितो जिह्वामूलीयं लभते । उरस्यो एवधस्तालव्यं लभते । कण्ठ्योऽनभिहतासंयुक्तः कण्ठ्यं एव लभते । कण्ठ्य आलिङ्ग(गि)तो जिह्वामूलीयं लभते । कण्ठ्योऽभिभूतितस्तालव्यं लभते । कण्ठ्यो एवधो मूर्धतालव्यं लभते । जिह्वामूलीयोऽनभिहतासंयुक्तो जिह्वामूलीयं लभते । स एवालिङ्गितस्तालव्यं [प० १९,पा० १] लभते । स एवाभिभूतित कर्मूतालव्यं लभते । स एवा(व?)-एवधो दन्त्यं लभते । तालव्यो अनभिहतासंयुक्तस्तालव्यं लभते । स एव एवधो दन्त्यं लभते । तालव्यो(व्य) आलिङ्गितः कर्मूतालव्यं लभते । स एवाभिभूतितो दन्त्यं लभते । स एव एवधो(वधो) उ(ओ)ष्ठ्यं लभते । मूर्धतालव्योऽनभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । स एवालिङ्गितो दन्त्यं लभते । स एवाभि[भूति]त उ(ओ)ष्ठ्यं लभते । स एवा(वा)एवधो अनुनासिकं लभते । दन्त्यो अनभिहतासंयुक्त(क्तः)स्वस्थानं लभते । स एवालि[प० १९,पा० २]ङ्गित ओष्ठ्यं लभते । स एवाभिभूतितो अनुनासिकं लभते । स एव एवधो मूर्धन्यं लभते । ओष्ठ्यो अ(ऽ)नभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । स एवालिङ्गितोऽनुनासिकं लभते । ओष्ठ्योऽभिभूतितो मूर्धन्यं लभते । एवध उरस्यं लभते । अनुनासिको अनभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । आलिङ्गितो मूर्धन्यं लभते । [प० २०,पा० १] अभिभूतित उरस्यं लभते । एवधः कण्ठ्यं लभते । मूर्धन्यो अनभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । आलिङ्गित उरस्यं लभते । अभिभूतितः कण्ठ्यं लभते । स एव एवधो जिह्वामूलीयं लभते ॥ २७ ॥

॥ एवं स(सा)मासि(सि)कं शिक्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥

———

जाणे सवग्गगरू(गुरु)ए, जोणी जा जस्स अप्पणातणिय ।
परवग्गक्खरठाए, जो उवरिं तस्स सा जोणी ॥ २१ ॥

जानीहि स्ववर्गाक्षरेणाक्षरो गुरुय(र्थे)श्च यथा–'क्त ग्घ' आभ्यां जीवो वक्तव्यः । 'त्त त्थ' आभ्यां धातुव(र्व)क्तव्यः । 'ह म न्ल म्रा(?)' एवमादिभिर्मूलम् । परवर्गेणापि योऽक्षरो गुरुर्थ्यं उपरिस्थितस्त[प॰ १४,पा॰ २]स्य सा योनिः । निदर्शनं–'ग्व ह्य ग्न(?)' इत्येवमादयो यथासंख्येन जीवधातुमूलानि ॥ २१ ॥

आइल्ला चत्तारि वि, जीवा पयडी हवंति ठाणाइं ।
पंचमछट्ठा धाओ, मूलपयडी य दो चरिमा ॥ २२ ॥

आद्या जीवस्वरा[ः] चत्वारः । 'अ इ ए ओ'कारो वर्णागत एवानो(सो) न गृहीतः । एते जीवाक्षराणामुपरिगता नि(निः)[प॰ १५,पा॰ १]संस(श)यं जीवमेव दर्शयन्ति । एता(ते) एव जीवस्वराः जीवप्रकृत्या धात्वक्षराणामुपरिगता जीवधातुं कुर्वन्ति । मूलाक्षराणामुपरिगता जीवमूलं दर्शयन्ति । जीवमूल–जीवधात्वोर्लक्षणं प्रागुक्तमिति । पंचम उकार(रः), षष्ठ ऊकारः, एतौ द्वौ धातुस्वरौ धात्वक्षराणामधोगतौ धातुमेव दर्शयतः । [प॰ १५,पा॰ २] 'अं' धातुस्वरश्चरिमः केवलो धातुमेव कथयति । 'अः' चरिमो जीवस्वरः केवलो जीवमेव कथयति । पूर्वोक्तानां जीव(वा)क्षराणामुपरिगतो चरिमसञ्ज्ञानुस्वारो जीवमेव कथयति । सत्रस्थस्वदारमको भवति । धात्वक्षराणामुपरिगतोऽनुस्वारो धातुमेव कथयति । मूलाक्षरोपरिगतोऽनुस्वारो मूलं दर्शयति । 'अः' चरिमसञ्ज्ञो विसर्ग[ः] जीवाक्षराणामन्यतमस्यामस्थित(तो)जीवमुपदर्शयति । धात्वक्षराग्रतो धातुं दर्शयति । मूलाक्षराणामन्यतमस्याग्रतो व्यवस्थितो विसर्गः [मूल]मेव दर्शयति । चरिमसंकल्पं त(नि)ष्वपि सर्व[प॰ १६,पा॰ १]स(क्षं) भवतीति । सामान्ययोनि(निः) समासा ॥ २२ ॥

सी(शि)क्षाक्षरविभागार्थं प्रयोजनत्वाच्च तदुपन्यासः–

उर-कंठ-जीहमूला तालव्वा तह य उड्ढतालव्वा ।
दंता उट्ठा अणुणासिया य मुद्धखा(मुद्धक्ख)रा चेव ॥ २३ ॥

नव स्थानानि वर्णानां तथोत्पत्तेः । उरः(उरस्याः), कण्ठ्याः, जिह्वामूलीयाः, तालव्याः, ऊर्ध्वतालव्याः, दन्त्याः, ओष्ठ्याः, अनुनासिकाः, मूर्धन्याश्चेति नवस्थानान्यक्षराणीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

सविसग्गो य अकारो, उकारो (?उरो) हकारो य जो हवइ हस्सो ।
हस्सस(स्स)रा य कंठा, जीहामूला क ख ग घा य ॥ २४ ॥

सर्व(वि)सर्गः, अकारः, हकारश्च, द्वावेतौ उ(र)स्यौ ज्ञातव्यौ । ह्रस्वस्वराः [प॰ १६,पा॰ २] अ इ ए उ चत्वारोऽप्येते कण्ठ्याः । 'क ख ग घ' इत्येते चत्वार(रो) जिह्वामूलीयाः ॥ २४ ॥

सत्तट्ठआ(मा)ण पढमा, तालव्वा च छ ज झा य चत्तारि ।
ट ठ ड ढ बीओ य सरो, हवंति खलु मुद्धतालव्वा ॥ २५ ॥

प्रथमवर्गस्य सप्तमो यकार(रः), यद्वा सप्तमवर्गस्य प्रथमो यकारः, अष्टमवर्गस्य प्रथमः

स(श)कारः । 'च छ ज झ' इत्येते चत्वारस्तालव्याः । 'ट ठ ड ढ' इत्येते [प० १७,पा० १] चत्वारः, द्वितीयस्वर आकारः, पञ्च एते मूर्द्धतालव्याः ॥ २५ ॥

त थ द ध सा पु(प)ण दंता, प फ ब भ धातुस्सरा वकारोड्डा(ट्ठा) ।
वग्गचरिमाणुणासी, मुद्धण्णा सेसया सव्वे ॥ २६ ॥

'त थ द ध सा' इत्येते पञ्च दन्त्या[ः] । 'प फ ब भ' इत्येते चत्वार(रः), धातुस्वरौ च द्वौ पञ्चमषष्ठौ उ ऊ, 'व' कारश्च, सप्तैते औष्ठ्याः । वर्गचरिमग्रहणेन पञ्चमानुनासिका 'ङ ञ ण न माः' गृह्यन्ते । [प० १७,पा० २]अथवा वर्गग्रहणेनानुनासिकाः, स्वराणां च मध्ये चरिमोऽनुनासि[को] बिन्दुः, 'अं' इत्येते च षडनुनासिकाः । शेषाः–स्वराः के ते ? 'ई ऐ औ' त्रयः । शेषाश्च(श्चा)क्षराः 'र ल षा' इत्येते त्रयः । एकत्र षड् मूर्द्धन्याः । **सि(शि)क्षाप्रकरणं समाप्तम्** ॥ २६ ॥

अत्रावसरप्राप्ता अक्षरलब्धिः, [तां] नामप्रकरणेऽभिधास्यति । इह ति(तु) प्राप्तिमात्रमुच्यते । तदर्थं गा[प० १८,पा० १]थामाह–

ठाणं ठाणं एक्केक्कयं तु आलिंगिधा(या)इ हायंति ।
उरसादी ठाणाणं, तालव्वे उवरिमो ठाइ ॥ २७ ॥

स्थानं स्थानमेकैकमालिंगिताभिधूमितदग्धास्त्यजन्ति । उरस्या निहतास्तालव्ये[न] इत्येवं क्रम अभिहत इति । अभिहतग्रहणेनालिंगिताभिधूमितदग्धा उच्यन्ते । उत्तरस्यो(उरस्यो)ऽनभिहतो असंयुक्त उरस्य एव लभते [प० १८,पा० २] अक्षरम् । उरस्य आलिंगितकण्ठस्थानं लभते । उरसोऽभिधूमितो जिह्वामूलीयं लभते । उरस्यो दग्धस्तालव्यं लभते । कण्ठ्योऽनभिहतासंयुक्तः कण्ठ्यं एव लभते । कण्ठ्य आलिंग्य(गि)तो जिह्वामूलीयं लभते । कण्ठ्योऽभिधूमितस्तालव्यं लभते । कण्ठ्यो दग्धो मूर्द्धतालव्यं लभते । जिह्वामूलीयोऽनभिहतासंयुक्तो जिह्वामूलीयं लभते । स एवालिंगितस्तालव्यं [प० १९,पा० १] लभते । स एवाभिधूमित ऊर्द्धतालव्यं लभते । स एवा(व ?)-दग्धो दन्त्यं लभते । तालव्यो अनभिहतासंयुक्तस्तालव्यं लभते । स एव दग्धो दन्त्यं लभते । तालव्यो(व्य) आलिंगितः ऊर्द्धतालव्यं लभते । स एवाभिधूमितो दन्त्यं लभते । स एव धुग्धो(ग्ध) उ(औ)ष्ठ्यं लभते । मूर्द्धतालव्योऽनभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । स एवालिंगितो दन्त्यं लभते । स एवाभि[धूमि]त उ(औ)ष्ठ्यं लभते । स एवा(व ?)दग्धो अनुनासिकं लभते । दन्त्यो अनभिहतासंयुक्त(क्तः)स्वस्थानं लभते । स एवालिं[प० १९,पा० २]गित औष्ठ्यं लभते । स एवाभिधूमितो अनुनासिकं लभते । स एव दग्धो मूर्द्धन्यं लभते । औष्ठ्यो अ(ऽ)नभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । स एवालिंगितोऽनुनासिकं लभते । औष्ठ्योऽभिधूमितो मूर्द्धन्यं लभते । दग्ध उरस्यं लभते । अनुनासिको अनभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । आलिंगितो मूर्द्धन्यं लभते । [प० २०,पा० १] अभिधूमित उरस्यं लभते । दग्धः कण्ठ्यं लभते । मूर्द्धन्यो अनभिहतासंयुक्तः स्वस्थानं लभते । आलिंगित उरस्यं लभते । अभिधूमितः कण्ठ्यं लभते । स एव दग्धो जिह्वामूलीयं लभते ॥ २७ ॥

॥ एवं स(सा)मासि(सि)कं शिक्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥

पढमो तइओ य सरो, सत्तम णवमो य संकडा हुस्सा ।
वियडा अंतरदी[प० २०,पा० २]हा वि चउत्थो पंचमो चेव ॥ २८ ॥

अकार-इकार-एकार-ओकारः, चत्वारोऽमी संकटसंज्ञाश्च ह्रस्वाश्च । प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा संकटस्वरबाहुल्यं भवति तदा प्रष्टा यस्यार्थे मोक्षं पृच्छति आत्मनो(नः) परस्य वा बद्धस्य तदा मोक्षो [न?] भव[ती]त्यादेस्यं(श्यम् ।) नष्टमपि न लभते । दुर्गभङ्गादिकं न प्राप्नोतीत्यादेस्यं(श्यम्) । एतद् व्यतिरिक्तमन्यद् यदा [प० २१,पा० १] पृच्छति तदे(दै)षां संकटसंज्ञानां स्वराणां बाहुल्ये सर्वमेव लभ्यत इत्यादेश्यम् । विकटा अन्तरदीर्घाः । के इत्यत्रोच्यते – द्वितीय आकारः, चतुर्थ ईकारः, पंचम उकारः, त्रयो विकटसंज्ञा अन्तरदीर्घाश्च । प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा विकटसंज्ञानां स्वराणां बाहुल्यं भवति तदा प्रष्टा यस्य कस्यचित् परस्यात्मनो वा बद्धस्य मोक्षं [प० २१,पा० २] पृच्छति तदा मोक्षो भवतीत्यादेश्यम् । नष्टमपि लभते । दुर्गादिभंगश्च सिध्यति, इत्यादेश्यम् । एतद् व्यतिरिक्तं यदन्यनु(त्तु) लाभादिकं पृच्छति तत्र भवतीत्यादेश्यम् ॥ २८ ॥

संकडा(ड)विअडा सेसा, सहा[व]दीहा य तिण्णि णि[य]मेणं ।
छट्ठट्ठमा य वेण्णि विसमस्सरो चेय णायव्वो ॥ २९ ॥

संकट-विकटाः शेषाः स्वभावदीर्घाश्च । षष्ठ ऊकारः, ऐकारोऽष्टमः, औकारो दशमः, इत्येते त्रयः । शेषग्रहणाद् बिन्दु-विसर्जनीयौ । प्रश्नाक्षराणां मध्ये संकट-विकटसंज्ञानां बाहुल्यं भवति तदा प्रष्टा यदात्मनो यदि वा परस्यार्थे बद्धस्य मोक्षं [प० २२,पा० १] पृच्छति तदा भेदेन मुच्यत इति वक्तव्यम् । नष्टमपि किंचिद्द्रव्यं भेदेनैव लभ्यते । दुर्गभंगोऽपि भेदेनैव भवतीत्यादेश्यम् । यदन्यदेतद् व्यतिरिक्तं शुभमशुभं वा पृच्छति तन्मध्यमं भवतीत्यादेश्यम् ॥ २९ ॥

पढमा(म त)इया य वियडा, बीय चउत्था य संकडा वग्गा ।
सेसा क(सं)कड-वियडी(डा), अ ङ ई दंडस्स भेदत्तियं ॥ ३० ॥

प्रथमाः – 'क च ट त प य स(श), [तृतीयाः] ग ज ड द ब ल सा' एतौ विकटसंज्ञौ । प्राग्वत् फलम् । द्वितीय(याः) – 'ख छ ठ थ फ र षाः', चतुर्थ(र्थाः) – 'घ झ ढ ध भ व हा' एते संकटसंज्ञाः । पूर्ववत् फलम् । शेषग्रहणा[त्] 'ङ ञ ण न मा' एते उभयस्वभावाः । दण्डं विप्रनष्टं द्रव्यमुच्यते ॥ ३० ॥ [प० २२,पा० २]

॥ एवं संकट-विकटप्रकरणं समाप्तम् ॥

वग्गे गणणादेसे, स(द)वेसु य उत्तराहरो होइ ।
वग्ग(ग्गु)त्तरा य नियमा, अ च त य वग्गंत(ग्गुत्त)रा चउरो ॥ ३१ ॥

उत्तराधरं चतुर्विधं – वर्गोत्तरं गणनोत्तरं आदेशोत्तरं द्रव्योत्तरं चेति । अस्य च संबन्धः आह – २ २ २ २ / १ १ १ १ 'वेवेक उत्तर अहरा य वेसिं जाणे वग्गक्खरसराणं' । तदर्थं प्राग् वर्गोत्तरमुच्यते – [प० २३,पा० १] 'अ च त य' एते चत्वारः वर्गाः । उत्तरा प्रधाना इत्यर्थः । ततश्चाल्पे(न्ये) 'क ट प श' संज्ञाश्चत्वारः अधरा अप्रधानाश्चेति ॥ ३१ ॥

एतदेवाह —

सेसा हवंति अहरा, वग्गा चत्तारि क ट प सा जाण ।
एक्केक्कंमि चउक्के, पुणो वि इणमो कमो णेओ ॥ ३२ ॥

अ[ष्टव]र्गक्रम एव, चत्वारो वर्गा अधराः । के ते? 'क ट प सा(शा)' शेषग्रहणाद् भण्यते ॥ ३२ ॥

गाथापश्चार्द्धस्यान्य[प० २३, पा० २]गाथया विभाषा क्रियते —

एक्केक्कंनि(मि) चउक्के, पुणो पि(वि) इणमो कमो उ विण्णेओ ।
दो उत्तरा उ तेसिं, दो चिअ अहराधरा विदिए ॥ ३३ ॥

निरूपितं उत्तरचतुष्कं अधरचतुष्कं चेति । तत्र चतुष्कद्वये भूय[ः] प्रधानाप्रधानदर्शनार्थं क्रमोऽयं विज्ञातव्यः । उत्तरचतुष्के द्वौ यथा — अ च वर्गौ प्रागुत्पन्नत्वाद् । द्वौ च इति द्वितीयचतुष्कमाह । तत्रान्त्यौ द्वौ वर्गौ 'प श' अधराधराविति मन्तव्यौ । अथवा द्वितीयवर्गौ द्वौ द्वा[व]धराविति । द्वौ अधरौ 'क ट' संज्ञौ । द्वौ अधराधरौ 'प स (श)' संज्ञौ । एवं वा नेयम् ॥ ३३ ॥

अनु(मु)मेवार्थं विशेषयन्नाह —

दो चेव उ [प० २४, पा० १]त्तरोत्तर, तेसिं दो उत्तराधर(रा) पढमे ।
अधरुत्तरा य दोण्णि य दोण्णि य अहराहरा विदिए ॥ ३४ ॥

तत्र उत्तरचतुष्के पूर्वोत्पन्नत्वात् प्रधानत्वाच्च 'अ च' एतौ उत्तरोत्तरौ । आभ्यामनन्तरपठि[त]त्वात् 'त य' एतौ उत्तराधरौ एव प्रथमचतुष्के । द्वितीये तु 'क ट' इत्येतौ अधरोत्तरौ । अधरचतुष्कत्वादधरौ प्रागुत्पन्नत्वादुत्तरौ । द्वौ अधराधरौ । 'प स[श]' संज्ञौ अधरचतुष्क(त्वा)दधरौ । 'क ट' वर्गयोः पश्चादुत्पन्नत्वाद् अधराधराविति । एवं अष्टवर्गक्रमेण वर्गोत्तरमुक्तम् ॥ ३४ ॥

पंचवर्गीयेत्(°थमेतत्?—) ।

पढम-तइया उ वग्गा, पण्हस्स य उत्तरक्खरा होंति ।
बितिय-चउत्था अंहरा, अ[हरा]हर हो[प० २४, पा० २]ति अणुणासी ॥३५॥

प्रथमवर्ग[ः] — 'क च ट त प य स (श)' इति । तृतीयो — 'ग ज ड द ब ल स' । एतौ वर्गौ उत्तरोत्तरौ, उत्तरावित्यर्थः । द्वितीय[ः] — 'ख छ ठ थ फ र प'; चतुर्थः — 'घ झ ढ ध भ व ह'; इत्येतौ वर्गौ अधरसंज्ञौ । 'ङ ञ ण न म' इत्येपो(ष) वर्गः अधराधरसंज्ञः । एवं वर्गोत्तरम् ॥३५॥

साम्प्रतं गणनोत्तरम्, तदर्थं [गाथा] —

गणणाए छा [प० २५, पा० १] इल्ला, सरुत्तरा छस्सराधरा इयरे ।
विसमा वि उत्तरा वंजणेसु अहरा समा भणिया ॥ ३६ ॥

गणना-अनुक्रमो भण्यते । तत्र स्वराणामाद्याः षड् उत्तराः, पूर्वोत्पन्नत्वात् । 'अ आ इ ई उ ऊ' । पश्चादुत्पन्नत्वाद् अधरा 'ए ऐ ओ औ अं अः' । यद्वाऽन्यथा गणनोत्तर(रं) स्वराणाम् 'अ इ उ ए ओ अं' द्वयोर्द्वयोः प्रागुत्प[प० २५, पा० २]न्नत्वादेते उत्तराः । पश्चादुत्पन्नत्वाद् 'आ ई ऊ ऐ औ अः' इत्येते अधराः । यत इदमाह —

"विसमा वि उत्तरा वंजणेसु अहरा समा भणियां ।"

इहापि गणनमेवाङ्गीकृत्योक्तम् । विषमा[ः]—प्रथम-तृतीय-पंचम-वर्गीया वर्णाः । द्वितीय-चतुर्थाः समा इति । विषमवर्गीया उत्तराः, समवर्गीया अधरा इति । एवं गणनोत्तरम् ॥३६॥

हुस्सा अयारसहिया, सरुत्तरादेसओऽधरा इयरे ।
क च ट त प य सा णुगओ य अकारो उत्तरो पढमो ॥ ३७ ॥

आदेशोत्तरमेतत्—ह्रस्वाः स्वरा अकारसहिता इति । 'अकार इकार उकार एकार ओकार अं'इत्येते उत्तरत्वेना[प॰ २६,पा॰ १]दिष्टाः । एतेषां यद्यपि मध्ये उकारो अप्रधानो दाहात्मकः, तथाप्युत्तर एव द्रष्टव्यः । उकारो यद्यप्युत्तरं दहति स उत्तर एव । यदधरं दहति स अधरो दग्धः उत्तरो भवति । शेषाः षड् अधराः पूर्वोक्ता अपि भेदोत्तरेण पुनरादिष्टाः । आ ई ऊ ऐ औ अः, अ क च ट त प य शेष्वन्तर्भूतोऽप्यकार उत्तर(रो) द्रष्टव्यः पृथगादौ ॥ ३७ ॥

क ग च ज ट ड त द प ब य ल, अट्ठमवग्गस्स पढम तइओ य ।
एते [य] उत्तरा वंजणेसु सेसा अ(ऽ)धरादेसे ॥ ३८ ॥

'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' एते प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराः । प्रथमवर्गस्याष्टमः स(श)-कारः । तस्मात् तृतीयः [प॰ २६,पा॰ २] 'स'कारः । एते सर्वे उत्तरत्वेनादिष्टाः । शेषा अधरा इति । 'ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ र व ष हा' इत्येते द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराः अधरा आदिष्टाः ॥ ३८ ॥

उत्तरसरसंजुत्ता, वग्गे लहु अक्खर(रु)त्तरादेसे ।
अहरसरेसु य अहरा, हवंति ये उत्तरा लहुया ॥ ३९ ॥

संयोगं प्रति उत्तरस्वरसंयुक्ता[ः] । के ते उत्तरस्वराः ? उच्यन्ते—'अ इ उ ए ओ अं' [प॰ २७,पा॰ १] एते । प्रथम-तृतीय-वर्गप्रतिबद्धा ये अक्षरास्ते लघवः । के ते ? उच्यन्ते—'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते । अनन्तरोक्ता उत्तरस(स्व)रसंयुक्ता उत्तरा एवादिस-(श्य)न्ते । एत एव 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' उत्तराधरस्वरैः 'आ ई ऊ ऐ औ अः' इत्येते(तैः) संयुक्ता अधरा इत्यादिस(श्य)न्ते । एवमादेशोत्तरम् ॥ ३९ ॥

दव्वेसु जे पहा[प॰ २७,पा॰ २]णा, पुव्वप(ब्बुप्प)न्ना य उत्तरा सव्वे ।
अधरा य अप्पहाणा, पच्छुप(पच्छुप्प)ण्णा य जे दव्वा ॥ ४० ॥

द्रव्याक्षरेषु ये प्रधानतमाः पूर्वोत्पन्नाश्च प्रथम-तृतीयवर्गाक्षरास्ते उत्तराः प्रधाना ज्ञातव्याः । अधराश्च पश्चादुत्पन्नाः । के ते ? द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराः । अप्रधाना ज्ञातव्या अधराश्चेति ॥४०॥

णा(णे)मित्तिएण जे [प॰ २८,पा॰ १] वा, उत्तरबुद्धीए अत्तणो गहिया ।
ते तस्स उत्तराणि उ, सेसा अहरीकया अहरा ॥ ४१ ॥

चत्वारो ये विकल्पा उत्तराधरप्रकरणे उक्तास्तांस्तिरस्कृत्य, वा क(का)दाचित्कं विधानमुररी-कृत्य विकल्पान्तरस्य चोपदर्शनार्थं आहितसंस्कारस्य निमित्तज्ञानवतो द्रागिति बुद्ध्युत्पादः । उत्तरेषु अधरबु[प॰ २८,पा॰ २]द्धिः, अधरेषु उत्तरबुद्धिर्वा यत्रोत्पन्ना फलतोऽपि तादृगा(गे)वासौ । यथा—ब्राह्मणकुलनिवासतुल्यो गोत्रवयोगुणादिपूर्वोत्तरसमाश्रितेषु तद्वद् विश्वासबुद्धिवदिति ॥ ४१ ॥

॥ एवं चतुर्विधम(मु)त्तराधरं समाप्तम् ॥



'अहवा इमं अट्ठविहं उत्तराधरं होइ' सूत्रवचक(न)मेतत् । अथवाऽष्टप्रकारमेतदुत्तराधरं भवतीति वचनस्यार्थः ।

अक्खरसरसंजोए, बलाबलविसेसओ अणति(हि)घाए ।
तत्तो य उत्तरोत्तर, अहराअ(ऽ)हर अट्ठमं जाणे ॥ ४२ ॥

साम्प्रतं गाथार्थमु(र्थ उ)च्यते—स्वरोत्तरं प्रथमं, अक्षरोत्तरं द्वितीयं, संयोगोत्तरं, बलाबलोत्तरं, विभागोत्तरं, अनभि[प० २९,पा० १]हतोत्तरं, [उत्तरं,] उत्तरोत्तरं चेति । एवमधरमपि अष्टप्रकारमेव सप्रतिपक्षत्वाद् वस्तुम(नः)स्वराधरं, अक्षराधरं, संयोगाधरं; [बलाबलाधरं, विभागाधरं] अनभिहताधरं, अधरं, अधराधरं चेति ॥ ४२ ॥

हस्सस(स्स)रुत्तरं अक्खरुत्तरं उत्तराख(रक्ख)रा सव्वे ।
हस्सस(स्स)रसंजुत्ता, संजोएणुत्तरा लहुया ॥ ४३ ॥

अत्र स्वरोत्तरमुच्यते गाथाया अवयवेनाद्येन । ह्रस्वस्वरोत्तरम् । के ह्रस्वाः स्वराः ? 'अ इ ए ओ' इत्येते चत्वारः । अक्खरुत्तरं उत्तरक्खरा सव्वे । क्वे (के) च ते ? प्रथम-तृतीयवर्गीया गृह्यन्ते । साम्प्रतं संयोगोत्तरमुच्यते—ह्रस्वस्वरसंयुक्ता ला(ल)घवो वर्णाः 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते । यथा—[प० २९,पा० २] 'क कि के को, ग गि गे गो, च चि चे चो, ज जि जे जो' इत्यादि संयोगोत्तरम् ॥ ४३ ॥

इदानीं विभागोत्तरं क्रममुल्लङ्घ्योच्यते, संयोगस्य प्रक्रान्तत्वात्—

गरुयक्खरा य सव्वे, उत्तरसरसंजुआ विभाएणं ।
सो ठवइ उत्तरो खलु, होंति अ से तिण्णि या(आ)देसा ॥ ४४ ॥

गुर्वो(र्व)क्षरा उक्ता द्वितीय-चतुर्थवर्गीयाः । ते उत्तरस्वरसंयुक्ताः; । यथा—'ख खि खे खो घ घि घे घो' । इत्यादिविभागेनोत्तराः । विभागो वदनं अंस(श) इत्यनर्थान्तरम् । यावता ह्रस्वस्वरसंयोगः । एतावता अंसे(शे)नोत्तरत्वं भजन्तो मुख्यतश्चाधरा एव । तस्मात् स्वर आदेशत्रयविभा[प० ३०,पा० १]गेन भवति । लघुस्वराः, ह्रस्वाः, उत्तराश्चेति । घोषा दु(दी)र्घाः, गुरु(र)वः, अधराश्चेति । एवं विभागोत्तरम् ॥ ४४ ॥

जो उत्तरेण अहरो, अभिहणंतो ठ(य) उत्तरो होइ ।
अहरेण उत्तरो वा, बलावलं उत्तरं एयं ॥ ४५ ॥

य उत्तरेणाधरः अभिहतः । उत्तरस्याबलीयस्त्वात् । तद्यथा—'ख क' । अत्र खकारः आलिंगितः, कखा(का)रस्यालिंगितत्वात् । एका संख्या ह्रसति । ह्रसी(सि)तैकसंख्या(ख्य)श्च, खकार(रः) के(क)कारो भवति । प्रतिपन्नश्चोत्तरभावं खकारो(रः,) अबलत्वात् । [त]था अधरेणाभिहन्यमान उत्तरोत्तरो भवति । यथा—'ग घ' । अत्र घकारोऽभिधूमिकः । गकारस्य संख्याद्व[प० ३०,पा० २]यमपनयन्ति(ति) । द(त्रि)संख्यत्वा[द्] गकारस्य । ह्रसिते च संख्याद्वये अबलत्वात् । गकारः ककारत्वमापन्न इति । एवमन्यत्रापि बलाबलिनोत्तरं परमम् ॥ ४५ ॥

साम्प्रतमनभिघातोत्तरमुच्यते–

पढमस(स्स)रसंजुत्ता, अणभिहया जे तु ते अणभिहया ।
उत्तरमधरं वेंति य, संजोएणेव दो चरिमा ॥ ४६ ॥

प्रथमस्वरसंयुक्ताः । कः प्रथमस्वरः ? अकारः । तेन अकारेण संयुक्ताः । के ते ? छध्वक्षराः अनभिहता भण्यन्ते । 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते अनभिहता(त)संज्ञाः । शेषवर्गास्त्वभिहतसंज्ञा इति प्रतिपक्षत्वाल(ल्ल)भ्यन्ते । एतदनभिहतोत्तरं उत्त[प० ११,पा० १]रेण चरिमेण बिन्दुना युक्तोऽक्षर उत्तरत्वं व्रजति । अधरेण विसर्जनीयेन युक्तोऽक्षरः अधरत्वं व्रजतीत्यर्थः । एवं षष्ठो भेदस्ततोऽयम् । उत्तरा उक्ताः । उत्तरोत्तराश्चोक्ताः । उत्तरप्रतिपक्षेणाधरा [अ]प्युक्ताः । उत्तरोत्तरप्रतिपक्षेणाधराधराः प्रोक्ताः । इत्येवं अष्टप्रकारमुत्तराधरव्याख्यानम् ॥ ४६ ॥

एवं सरुत्तरादिसु, बलाबलं सव्वओ पलोएउं ।
चिन्तादीए भावे, जीवाइ व(वि?)णिद्दिसे मइमं ॥ ४७ ॥

ह्रस्वस्वरो ह्रस्वासरं(?) बलाबलं सर्वतो विलोक्य चिन्ता-नष्ट-मुष्टि-जीव-धातु-मूलयोनिं वा विलोक्य बलाधिक्येनाक्षरे(रा)णामादिशेन्मतिमान् ॥ ४७ ॥

जीवं जाणसु दोसुत्तरेसु [प० ११,पा० २] अहरेसु दोसु भण धाओ(उं) ।
अहरुत्तरेसु मूलं, उत्तरमधरे तहा धाउं ॥ ४८ ॥

जीवं जानीहि । प्रश्नाक्षराणामादौ पतिते उत्तराक्षरद्वये जीवं, प्रश्नाक्षराणां आदौ पतिते अधराक्षरद्वये धातुं, प्रश्नाक्षराणां आदौ पतिते अधरे द्वितीये चोत्तरेऽनन्तरं पतिते मूलमवगच्छ । [प० ११,पा० ३] प्रश्नाक्षराणा[मा]दौ यदा उत्तरो दृश्यते ततोऽनन्तरं श्वा(चा)धरः । तदाऽपि धातुमेवागच्छ ॥ ४८ ॥

॥ इत्येवं उत्तराधरं प्रकरणं समाप्तम् ॥

दुविहो खलु अभिघाओ, सद्दगओ चेव अक्खरा(र)गओ य ।
सद्दगओ तिविगप्पो, मंदो मज्झो य तिव्वो य ॥ ४९ ॥

द्विविधोऽभिघातः शब्दगतोऽक्षरगतश्च । तत्र श[प० ११,पा० ४]ब्दगतो अनक्षरात्मकोऽनेकप्रकारः पटह-स(शं)ख-भेरी-कुड्यपतन-मुद्गर-जालाभिघातादिलक्षणः । स तृ(त्रि)विकल्पः (स्व)रूपो मध्यमो महांश्चेते(महांश्चेति) । क्रमसः(शः) आलिंगिताभिधूमितदग्धलक्षणः । अक्ष[र]गतमभिघातमुपरिष्टाद् वक्ष्यति ॥ ४९ ॥

एक्केक्को पुण दुविहो, होइ पसत्थो य अप्पसत्थो य ।
[अ°]पसत्थो मंदादी, कुणइ आलिंगियादीणि ॥ ५० ॥

स शब्दो द्विविधः–प्रशस्ता(स्तोऽ)प्रशस्तश्च । वीणा-वेणु-सं(शं)ख-भेरी-पटहादिगतः प्रशस्तः । कुड्यपत[न]-भाण्डाविभङ्ग-रासभादिशब्दश्चाप्रशस्तः । यः शब्दोऽल्प आलिंगितः प्रश-

स्तो वाऽप्रशस्तो चेति। मध्यमो यः शब्दो [प० १३, पा० १]ऽभिधूमितसंज्ञः प्रशस्तः, अप्रशस्तो वा। एवं प्रशस्तः, अप्रशस्तो वा यः शब्दस्तीव्रः स दग्धसंज्ञः। प्रशस्तो यः शब्दोऽल्पः सोऽल्पफलं ददाति, स्थिरं च करोति। प्रशस्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यमफलं ददाति, मध्यमं स्थैर्यं करोति। प्रशस्तो यः शब्दस्तीव्रः स महत् फलं करोति, स्थैर्यं च तस्याल्पकालमिति। अप्रशस्तः यः शब्दोऽल्पः सोऽल्पमान्द्यं करोति, स्थैर्यं च तस्य मान्द्यं करोति। अप्रशस्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यममान्द्यं करोति, मध्यमं च स्थैर्यं मान्द्यस्य करोति। अप्रशस्तो यः शब्दः तीव्रः स महामान्द्यं करोति, अवस्थानं च त[प० १३, पा० २]स्य मान्द्यस्याल्पकालमित्येतदपि शुभाशुभमल्प-मध्यम-महत्त्वेन द्र[ष्ट]व्यम्। एवं शब्दाभिघातः ॥ ५० ॥

अक्षराभिघातार्थः—

वि-चउत्थ-पंचमाणं, वग्गाणं अक्खरा अभिहणंति।
एक्कुत्तरिया य सरा, अणभिहया सेसया वग्गा ॥ ५१ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चमवर्गाः प्रथम-तृतीयौ वर्गावभिहन्यो[प० १४, पा० १]ति। एकान्तरिता-स्त(श्च) स्वरा[ः] के भण्यन्ते ? इत्यत्रोच्यते—यद्यप्येकान्तरिता बहवः, तथापि 'आ ई ऊ' कारश्च एते त्रय एकान्तरिता[ः] प्रथम-तृतीयौ वर्गा[व]भिघ्नन्ति। प्रथम-तृतीयवर्गौ ह्रस्वस्वराश्च चत्वार एते परस्परं नाभिघ्नन्ति ॥ ५१ ॥

अणभिहया अनि(ण्णभि)हया वा, पिल्लिज्जंता उ ओभिघा[प० १४, पा० २]तीहिं।
आलिंगियाभिधूमितदढं(ड्ढं) व लहंति ते नामं ॥ ५२ ॥

अनभिहता वर्गा उक्ता अभिहताश्च एते अनभिहता वा के ते प्रश्नाक्षरा[ः] ? तेषां प्रश्नाक्षराणां स्थापितानां किमपि घातोऽस्ति नास्ति च इति चिन्त्यम्। यदा प्रश्नाक्षराणां परस्पराभिघात उच्यते तदा [1]प्रथमाक्षरद्वितीयाक्षरत्रि(स्तृ)तीयाक्षरमभिहन्ति। तृतीयाक्षरं चतुर्थाक्षरं अभिहन्ति। एवं चतुर्थाक्षरं पञ्चमाक्षरं, पञ्चमं षष्ठः, षष्ठं सप्तमः, सप्तमो(?)ऽभिहन्त्यभिघाते सति। यो यस्यानन्तरं स तमिति। अभिघातस्यालिङ्गिताभि[धूमि]तदग्धलक्षणमुपरि[प० १५, पा० १]ष्टाद् विस्तरेण व्याख्यास्यति। यदा प्रश्नाक्षराः सर्वे परस्परमभिहताः, तदा अप्रधाना निफ(ष्फ)लास्त्र(श्च) भवन्तीति ॥ ५२ ॥

अथ तावत् स्वराभिघाता उच्यन्ते—

अणत्रि(भि)ह[य] अभिहया वा, अंतरदीहस(स्स)रेहि संजुत्ता।
अभिधूम(मि)यंति लहुया, दहंति गरुया वि ते चेव ॥ ५३ ॥

अनभिहता अभिहता वा ये प्रश्नाक्षराः। अथवा प्रथम-तृतीयौ वर्गावनभिहतसंज्ञौ। शेषवर्गाभिहतसंज्ञाः। एते अन्तरदीर्घा(र्घ)स्वरयुक्ताः। के ते अन्तरदीर्घस्वराः ? आकार, ईकार, ऊकारश्चेति एते त्रयः। एतैरन्तरदीर्घस्वरैः संयुक्ता अभिधूम्यन्ते [प० १५, पा० २] लघवो वा(व)र्णमवस्थितैः। के ते लघ्वक्षराः ? 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते वर्णाः। आकारेण ईकारेण ऊकारेण च संयुक्ता अग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितैर्दह्यन्ते गुर्वा(र्व)-

[1-1] एतदंशस्थानेऽत्र... एतो अशुद्धपाठो दृश्यते।

क्षराः । के ते गुर्वो(र्व)क्षराः ? 'ख छ ठ थ फ र पा' इत्येते सप्त । आकारेण ईकारेण ऊकारेण च [प॰ १६,पा॰ १] संयुक्ता अग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितैर्दह्यते(न्ते) परेण । गुर्वो(र्व)क्ष)राः के ते ? 'घ झ ढ ध भ व हा' इत्येते सप्त ॥ ५३ ॥

आलिंगियन्ति ह्रस्सस(स्स)रा हु दीहस्सरा रि(इ)ह दहंति ।
पण्हक्खरा उ सव्वे, संजुत्ता आणुपुव्वीए ॥ ५४ ॥

आलिंग्यन्ते ह्रस्वस्वराः । के ते ह्रस्वस्वराः 'अ इ उ ए' ते चत्वारः । के ते आलिङ्ग्यते(न्ते) 'ख छ ठ थ [प॰ १६,पा॰ २] फ र पाः, घ झ ढ ध भ व हा' इत्येते द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराः सप्त । 'घ झ ढ(ढ) ध भ व हा'श्चतुर्थवर्गाक्षरा दह्यन्ते चतुर्भिः स्वरैः । के ते चत्वारः 'ओ औ अं अः' । एवं संयुक्ताः आनुपूर्व्या आलिङ्ग्यन्ते, अभिधूम्यन्ते, दह्यन्ते च ॥ ५४ ॥

अमुमेवार्थं गाथान्तरेण प्रतिपादयन्नाह—

अंतरदीहा अभिधूमियंति आलिंग(गि)यंति जे ह्रस्सा ।
टिट्ट(दिट्ठ)दो चरिमसरा, अ(स)हावदीहाणुणासीया ॥ ५५ ॥

अन्तरदीर्घ्य(र्घा) उक्ता 'आ ई ऊ' एतेऽभिधूमितसंज्ञा[ः] । ह्रस्वा उक्ता 'अ इ ए उ' एते आलिङ्गितसंज्ञाः । [ऐ औ] द्वौ स्वरौ चरिमसंज्ञौ या अ(आ)मेयौ तौ दहतः । [प॰ १७,पा॰ १] स्वभावदीर्घाः 'ऊ ऐ औ' अनुनासिका 'ङ ञ ण न माः' इत्येते ॥ ५५ ॥

स्वरास्त्र(स्त्रि)धा निरूप्यान्यगाथा(थ)या फलमुच्यते—

आलिंगिया य आलिंगियंति अभिधूमिया य धूमेंति ।
दड्डा(ड्ढा) य दहंति सरा, तेसिं जुत्तं च वरिपं(मं)च ॥ ५६ ॥

आलिङ्गितसंज्ञाः, के ते 'अ इ ए ओ' एतैश्चतुर्भिः स्वरैः ये आलिंग्यन्ते । द्वितीय-चतुर्थव[र्गा]क्षराः उक्ता एव । अभिधूमितसंज्ञाश्च 'आ ई ऊ' एतैरभिधूम्यन्ते । प्रथम-तृतीयवर्गाक्षरास्तेऽप्युक्ताः । एवं दग्धसंज्ञा 'उ ऊ अं अः' एते प्रथम-तृतीयवर्गा दहन्ति । एतदप्युक्तम् । 'ओ औ अं अः' एते चत्वारस्तैः स्वरैः संयुक्तस्वराः [प॰ १७,पा॰ २] प्रथम-तृतीय-चतुर्थवर्गाक्षरा दहन्ति । इत्येतदुक्तमपि पुनरुक्तम् । 'ऐ औ' एतौ द्वौ स्वरौ प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गा दहन्ति । इत्येतदप्युक्तम् । एतैर्दहनात्मकैर्यः संयुक्तोऽक्षरस्तं दहन्ति पूर्वाक्षरं वानन्तरमिति संयोगभावे सति ॥ ५६ ॥

एवं स्वराभिघात उक्तः । इदानीं वर्गाभिघातः—

बीओ य पढम-त्तइयं, पढम-त्तइया य जायदो(जे य दु?) चउत्थं ।
आलिंगियंति वग्गं, चउत्थ पुण पंचमं वग्गं ॥ ५७ ॥ [प॰ १८,पा॰ १]

द्वितीयो वर्गः प्रथमवर्गं तृतीयं चालिङ्गयति । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गश्च द्वितीयवर्गमालिङ्गयतः(ति) । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गश्चतुर्थवर्गमालिङ्गयति । तदुक्तम्—प्रथम-तृतीयौ दोविय द्वितीयद्वयचतुर्थं [इ]ति । चतुर्थवर्गः पञ्चममालिङ्गयति । अत्र प्रथमवर्गः पृथिव्यात्मकः । द्वितीयो वाया(य्वा)त्मकः । तृतीय उदकात्मकः । चतुर्थ आकासा(शा)त्मकः । पञ्चमः अग्न्यात्मकः । इत्येवं पञ्चमहा[प॰ १८,पा॰ २]भूतात्मकं जगदि[ति] ॥ ५७ ॥

अभिधूमेइ चउत्थो, आइमवग्गो उ तिण्णि नियमेणं ।
पंचम-चउत्थवग्गे, दोण्णि य अभिधूमये बितिओ ॥ ५८ ॥

अभिधूमयति चतुर्थो वर्गः प्रथमवर्गं(र्गं) तृ(द्वि)तीयवर्गं तृयतीवर्गं च । द्वितीयवर्गश्चतुर्थवर्गं पञ्चमवर्गंश्चे(र्गं चे)ति ॥ ५८ ॥

आइल्ला चत्तारि वि, डज्झंति पंचमेण वग्गेण ।
पंचमओ पुण डज्झइ, पढम-तइज्जेसु दोसुं पि ॥ ५९ ॥

प्रथम-द्वितीय-[तृतीय]-चतुर्थवर्गा दह्यन्ते पञ्चमवर्गेण अग्न्यात्मकत्वात् । पञ्चमवर्गस्तु दह्यते विनास्य(श्य)ते प्रथम-तृतीयौ(यैः) पृथिव्यो(व्यु)दकात्मकैः ॥ ५९ ॥

जे जे समाभिलावा, अण्णो[प० ३९,पा० १]ण्णं ते उ णं अभिहणंवे(ते)ति ।
जह क ग च ज मादीया, दो दो लहुआ सुआ अण्णा ॥ ६० ॥

जे जे(ये ये) समानसी(शी)ला लघवश्च माझेवे(?) लघवः अन्योन्याना(न्ना)भिघ्नन्ति । के ते समानसी(शी)लाः, ते उच्यन्ते—'क ग च ज ट ड त द प ब य ल स (श) सा' इत्येते । प्रथमवर्गस्त(स्तृ)तीयवर्गश्च लघुसंज्ञौ । अनयोरासन्नौ(न्नौ) द्वितीय-चतुर्थवर्गौ गुरुसंज्ञौ भवतः । परस्पराभिघातकौ चेति ॥ ६० ॥

अभिहणमाणे दिट्ठो(ट्ठे?), जोणीसंठाणवण्णमाईणि ।
अभिहणमाणस्स ऊ (?) भवे, ण जो उ अभिहण्णए तस्स ॥ ६१ ॥

अभिहन्यमाने दृष्टे । कोऽभिहण्यन्ते(न्यते) । दो(यो)भि[प० ३९,पा० २]हन्तीत्युक्तमपि पुनरुच्यते—पूर्व(र्व)पूर्वाक्षरोऽभिमेणाक्क(क्ष)रेण यादृशेन यादृश इति । पूर्वोक्तं योऽभिहन्ति तस्याभियं(ह)न्तु(हन्तुः) योनि-स्थान-वर्णप्रमाणादीनि वक्तव्यानीति । कस्मात्कारणादित्युच्यते—येन सर्वोऽभिहन्ति बलीयानीति (बलवान् इति?) ॥ ६१ ॥

परवग्गेण उ वग्गो, जो जेण अभिहण्णए उ तो तस्स ।
अभिघ(घा)यं जाणेज्जा, राजादिसंथ(घ)ण्णा(ण्णा)णं ॥ ६२ ॥

परवर्गेण वर्गो यो येनाभिहन्यत इति । परवर्गस्य इत्यक्षरस्य संज्ञा । एतत्तु प्र(पृ)पक(क्)व सा(शा)त् । पराक्षरेण(?) योऽक्षरोऽभिहन्यन्ते(ते) तस्याभिहन्त्र्या[प० ४०,पा० १]मानस्य पराजओ(यो) वक्तव्यः । अभिहर्त्तु(न्तु)र्जयो वक्तव्यः । एवं ब्राह्मणादिवर्णानां राजन्यस्य वा युद्धे विवादे वा जय(यः)पराजयो वाच्य इति । आलिङ्ग(ङ्गि)ते भागहानिः । अभिधूमित-अभिघाते द्वे हानिः क्षयो वा । दग्धे निशे(श्शो)पतश्चक्षयो मृत्युर्वा ॥ ६२ ॥

आलिंगियंमि जीवं, मूलं अभिधूमियंमि पण्हंमि ।
दद्दं(ड्ढं)मि भणसु धाउं, एत्तो उड्ढं जहा वोच्छं ॥ ६३ ॥

प्रशस्ताप्रशस्ताश्च ये शब्दा[:] पटहशुष्यपतनादिगवास्ते पूर्वोक्ता [प० ४०,पा० २]आलिंगिताभिधूमितदग्धलक्षणाः । तत्रालिङ्गिते शब्दे [जीव आदेशयः । अभिधूमिते शब्दे] मूलमादेश्यम् । दग्धे शब्दे धातुरादेश्यः(श्यः) । इत्यतः पूर्वं(र्ध्व) 'यथे'ति वक्ष्यमाणकं प्रश्नम् ॥ ६३ ॥

आलिंगियंमि कलहो, मंदं अभिधूमियंमि पण्हंमि ।
दड्ढंसि भणसु मरणं, एत्तो उड्ढं जहा वोच्छं ॥ ६४ ॥

अस्मिन(न्न)पि प्रशस्ताप्रशस्तशब्दत एवानक्षररूपो ध्वनिरधिकृत्या(त्यो)पदिष्टम् ॥ ६४ ॥

॥ अभिघातप्रकरणं समाप्तम् ॥

वग्गाणं जइ पढमा, णिरंतरं वा तिण्हि पण्हमाइए ।
तो सुण्णं जाणेज्जा, [ण]वि किंचि वि चिंतियं तथे(त्थ) ॥ ६५ ॥

वर्गाणां यदि [प० ४१,पा० १] प्रथमा इति प्रथमग्रहणेन स(स्व)राणां प्रथमः अकारः, 'क' वर्गस्य च प्रथमः ककारः, 'च' वर्गस्य च प्रथमच(श्च)कारः । एते त्रयो यदा निरन्तरं प्रश्नादौ दृश्यन्ते तदा सु(शू)न्यं जानीयात् । न किञ्चिदपि चिन्तितं तत्रेति । तथा मण्डुक्किकायाम् ॥६५॥

अभिहयबिंदुविसग्गे, चिंता सुट्ठी य सुन्निया होइ ।
वग्गेक्कबहुलवण्णो, तत्थ ण कज्जं मुणेयव्वा(व्वं) ॥ ६६ ॥

अ(य)त्र प्रश्नाक्षरा आरम्भादेव बिन्दुविसर्गाभिहताः । तत्र चिन्तायां मुष्टौ च (शू)न्यम् । यथा एकवर्गीया नैरन्तर्येण बहवो वर्णास्तत्रापि न कार्यं सु(शू)न्यमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

मीसेसु [प० ४१,पा० २] अत्थि चिंता, आधाराधेयमित्तय[ति]दुविहा ।
धम्माधम्मागासा आहारा तिण्णि विन्नेया ॥ ६७ ॥

प्रश्नाक्षराणां मध्ये 'अ क चा' यदाऽन्यवर्गे[ण] सहिता दृस्य(श्य)न्ते तदाऽस्ति चिन्ता । सा च द्विविधा आधारविषया, आधेयविषया वा । उभय[प० ४२,पा० १]विषयाऽपि सम्भवा द(त्रि)विधा भवतीति । आधारा [अ]क्षराणि, आधि(धे)या मात्रा । अक्षर-मात्राभेदेन द्विविधा चिन्ता । धातुयोनौ लब्धायाम् । धातुस्त(स्त्रि)विधो धाम्यः, अधाम्यः, आकाशमिति—एवं केचिद् व्याख्यानयन्ति । तदेतदुपरिगाथया स[प० ४२,पा० २]ह विरुध्यते । तस्मादन्यथा व्याख्यायते—आधारस्त(स्त्रि)विधः—धर्माधर्माकाशाख्यो [ऽ]मूर्ताः । तत्र धर्माधर्मौ लोकव्यापिनौ । आकाशस्तु लोकालोकव्यापी । तत्र गतिलक्षणो धर्मास्तिकायो गतिमतां जीवानां पुग्ग(द्ग)लानां च गत्युपग्रहे वर्तते । स्थितिलक्षणाः(णः) अधर्मास्तिकायः स्थितिमतां स्थितिहेतुः । अवगा(गा)हलक्षणमाकाशं, अवगाहिनामवगा[ह]हेतुरिति । एते त्रयोऽपि अमूर्ता जीव-मूल-धातूनां आधारं, आधेया जीवधातुमूला इति [प० ४३,पा० १] ॥ ६७ ॥

एतंत(त्वद्) एवाह—

जीवं धाउं मूलं, आघेयं तत्थ पढमओ जीवो ।
न(?अ)इदीसइ सो दुविहो, जीवावयवो य जीवो वा ॥ ६८ ॥

जीव[ः], प्रथम[ः], धातुपदार्थो द्वितीय[ः], मूलपदार्थस्तृतीयः । एवं द(त्रि)भिः पदार्थैव्या(र्व्या)प्तं जगदिति । त्रिविधैव योनिर्भवति । तत्र तावत् प्रथमो जीवपदार्थः । स च द्विविधो द्रव्यो जीवो [जी]वावयवश्चेति ॥ ६८ ॥

जीवे दिट्ठे जीवं, जीवावयवं च तत्थ नायव्वं ।
पुणरवि उत्तरसहिए, पण्हे जीवं हवे नियमा ॥ ६९ ॥

जीवाक्षरेष्वनभिहतेषु [प० ४३, पा० २] जीव इत्यादेरथम् । तेष्वेवाभिहतेषु जीवावयवो वक्तव्यः । पुनरप्युत्तरस्वरैरक्षरैर्वा बहुले प्रश्ने जीवेनैव तिसंस(निस्संश)यं भवितव्यम् ॥ ६९ ॥

अहरसहिए उ पयो(ण्हे), जीवं वावयवं नु(? तु) मुणिज्जासु ।
जीवे लद्धंमि पुणो, दुवय-अपदाहि(इ)पभेदा [य] ॥ ७० ॥

अधराहतो (अधरसहिते?) प्रश्ने जीवावयव(वं) जानीहि । जीवयोनौ लब्धायां द्विपद-चतुष्पदापदपादसंकुला भेदा वक्ष्यमाणाश्चिन्त्याः ॥ ७० ॥

लोमाणि तया रुहिरं, मेदो मंस-ट्ठि-मज्ज-सुक्काइ ।
जीवावयवा [य] पदे, जीवा सिद्धा असिद्धा य ॥ ७१ ॥

रोमाणि त्वग् रुधिरं मांसं मेदोऽस्थि[प० ४४, पा० १]मज्जाशुक्राम्य(ण्य)ष्टावेति जीवावयवाः । जीवाः सिद्धा असिद्धाश्च द्विविधा भण्यन्ते ॥ ७१ ॥

सिद्धा एगवियप्पा, [अ]सिद्ध संसारिणो चउवियप्पा ।
दुपया चउप्पयावि य, अपया पयसंकुला चेव ॥ ७२ ॥

तत्र सिद्धा एकभेदाः संसारविनिर्मुक्ताः । असिद्धाः संसारिणः । ते चतु······[र्विकल्पाः] । चतुरो भेदाश्च(ना)ह–देवगतिः, मनुष्यगतिः, तिर्यग्गतिः, नारकगतिश्चेति । द्विपद-चतुष्पद-अपद[पद]संकुलाश्चेत्यमरचक्रमेभेधा (०श्चेत्यपरचतुर्भेदाः) ॥ ७२ ॥

दुपया माणुस्स(स)देवा, पक्खी तह नारया मुणेयव्वा ।
मणुया हु चउवियप्पा, णायव्वा पण्हइत्तेहि ॥ ७३ ॥

द्विपदा मानुष(षाः) देवाः [प० ४४, पा० २] पक्षिणो नारकाश्चेति वक्तव्याः । मनुजाश्चतुर्भेदाः ॥ ७३ ॥

तेषामन्यगाथया चतुरो भेदा[न्] वक्ष्यति–

पढमो ह बंभणाणं, बीओ वग्गो य हवइ वेसाणं ।
तइओ [य] खत्तियाणं, सेसा दो होंति सुद्दाणं ॥ ७४ ॥

प्रथमो वर्गः 'क च ट त प य सा (शा)' इति ब्राह्मणाः(नां) ज्ञेयाः(यः) । द्वितीयो वर्गः 'ख छ ठ थ फ र पा' इति भवति वेस्या(वैश्या)नाम् । तृतीयवर्गो(र्गः) 'ग ज ड द ब ल सा' क्षत्रियाणाम् । चतुर्थो वर्गः 'घ झ ढ ध भ व हा' [प० ४५, पा० १] शूद्राणाम् । 'ङ ञ ण न मा' पञ्चमो वर्ग[ः] शं(सं)करजातीनाम् ॥ ७४ ॥

दुविहा एते णेया, इत्थी पुरिसा पुणो वि ते विव(तिवि)हा ।
बाला तरुणा थेरा, उत्तम-मज्झा-धमा तिविहा ॥ ७५ ॥

ये एते चतुर्विधा ब्राह्मणादय उक्ताः, तेष्वेव पूर्वोक्तवर्गेषु प्रथमो वर्गस्तृतीयवर्गो(र्गे)श्च पुमान् ज्ञेयः । द्वितीय-चतुर्थवर्गौ स्त्रीसंज्ञौ । पञ्चमो वर्गो नपुंसकसंज्ञः । तत्र पुमांस्त(स्त्रि)विधो बाल-तरुण-स्थविर इति । योषि[प० ४५, पा० २]दपि त्रिविधा बाला तरुणी स्थविरा चेति । नपुंसकमिति(मपि) त्रिविधमेव बालं तरुणं स्थविरं चेति । स्त्री-पुं-[नपुं]सकान्येतानि प्रत्येकं त्रिविधान्युत्तम-मध्यमाधमत्वेन द्रष्टव्यानि । विवेकमेषां वक्ष(क्ष्य)माणलक्षणगाथया दर्शयिष्यति ॥ ७५ ॥

तह चेय कम्मब्भा(भू)मा, अकम्मभूमा य अंतरदी(द्दी)वा ।
एदे कमेण सव्वे, सणामणिदे(द्दे)सउ(ओ) जाण ॥ ७६ ॥

तथा चैक(वं) कर्मभूमयः । देवाः प्रथमवर्गाक्षराः, अन्तरदीर्घस्वरैर्युक्ताः । कर्मभूमयो मनुष्या भवन्ति । अन्तरदीर्घस्वराश्च 'आ ई ऊ' । [प० ४६, पा० १]एतेऽवय[वा] उक्ता अपि स्फुटाः पुनरुक्ताः । तृतीयवर्गाक्षराः अन्तरदीर्घस्वरैर्युक्ता अकर्मभूमयो भवन्ति देवाः । एषां कर्मभूमिजानां अकर्मभूमिजानां योनि[ः] स्वभाव[ः] चेष्टा च वर्णाकृतिः प्रमाणमिति वक्तव्यानि । अन्तरदी(द्वी)पानां षट्पंचास(श)तां एकोरुकादीनां प्रपञ्चो नेपधां(ऽनेकधा?) । तेषां च स्वनामनिर्देशा[त्]परिज्ञानं कर्त्तव्या(व्य)मिति ॥ ७६ ॥

॥ जीवसमा[स]प्रकरणं समाप्तम् ॥

धातुस्सरा सहस्सा, कगादिवग्गाणुरासिया दुपए ।
बीओ दसमो य सरो, चउप्पए खाइवग्गो य ॥ ७७ ॥

प्रश्ने प्रथम-[प० ४६, पा० २]तृतीय-पंचमवर्गाक्षराणिध(ण्यधि)के प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाणामेवाक्षरा एकस्मिन् उकारेण धातुस्वरेण ह्रस्वेन युक्तो(क्ताः) तेषामेवान्यतमस्याग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन द्विपदजीवचिन्ता विज्ञेया । प्रश्ने द्वितीयवर्गाक्षरबहुले द्वितीय आकारो दशम औकारो(र)स्तयोरन्यतरेण द्वितीयवर्गाक्षरेषु युक्तेषु द्वाभ्यां वा चतुष्पदचिन्ता विज्ञातव्या ॥७७॥

अपयाणं घ झ ढा खलु, पयाकुलयाण(ल्लाणं च) ध भ व हा चउरो ।
चउरट्ठमबारसमा, [प० ४७, पा० १] सरा य दोण्हंमि सामण्णा ॥ ७८ ॥

घ झ ढ बहुले प्रश्ने ईकारे ऐकारे अकारेण च सविसर्गेण एभिस्त(स्त्रि)भिः स्वरैर्युक्तेषु । एषां चान्यतमाक्षरस्यानन्तराग्रकान्तस्वराणामन्यतमोऽग्रतोऽनन्तरमवस्थिते अपदा ज्ञेयाः । ध भ व हाश्चत्वारः, एतैरेव स्वरैस्त्रिभिर्युक्ताः पूर्वोक्ता(क्त)न्यायेन पादसंकुलाः प्राणिनो ज्ञेया इति ॥ ७८ ॥

जइ पढम-तइय-पञ्चम-वग्गे पण्हक्खराइ दीसंति ।
तो दुपय-जीवचिंता, चउप्पयाणं पि [बि]चउत्थे ॥ ७९ ॥

अन्या[प० ४७, पा० २][द]पि परिपाट्या उक्तमपि किञ्चिद्विशेषमधिकृत्योच्यते—प्रथमवर्गस्य तृतीयवर्गस्य पञ्चमवर्गस्य च सम्बन्धिनो यदा प्रश्नाक्षरा बाहुल्येन दृश्यन्ते तदा द्विपदजीवचिन्ता ज्ञातव्या । द्विचतुर्थवर्गाक्षराणां बाहुल्ये चतुष्पदा ज्ञेया[ः] ॥ ७९ ॥

भवणवइ-वाणवंतर-जोइस-वेमाणिया तहा देवा ।
तेसि दस अट्ठ पंच य, व(बा)रस णव पंच य वियप्पा ॥ ८० ॥

दश प्रकारा भवनवासिनः, तद्यथा – असुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णा-ऽग्नि-वात-स्तनितो-दधि-द्वीप-दिक्कुमाराः । अष्ट प्रकारा व्यन्तराः – किंनर-किंपुरुष-[प० ४८,पा० १]महोरगा(ग)-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः । पञ्च भेदा ज्योतिष्काः – सूर्य-चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतारकाश्च । वैमानिका अनेकप्रकाराः – सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रार-आनत-प्राणत-आरण-अच्युताद्या द्वादशकल्पोपपन्नकाः । अपरे नवग्रैवेयकाः – अधोमध्यमोपरि-विभागस्थाः । तथाऽनुत्तरविमानवासिनः पञ्चप्रकाराः – विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजिताः सर्वार्थ-सिद्धसंज्ञाः । एते स्वभावनिर्देशतो विज्ञातव्याः ॥ ८० ॥

सिद्धाण आदिवग्गो, देवाणं होंति तिण्णि वग्गाओ(उ) ।
दो चेव मानुपा(णुसा)णं, [प० ४८, पा० २] सेसा तिरियास(ण) वग्गा हु ॥८१॥

लोकाग्रे व्यवस्थिताः सिद्धा अशेषविमुक्ताश्च अकारबहुले प्रश्ने । [क च ट बहुले प्रश्ने ?] वैमानिका देवा ज्ञेयाः । त प बहुले प्रश्ने मनुष्या ज्ञातव्याः । य श बहुले प्रश्ने उत्कृष्टाति(स्ति)र्य-ग्गतयो ज्ञेयाः ॥ ८१ ॥

दुपयक्खरेसु दिट्ठे, सव्वे दुपयक्खरा मणुस्साणं ।
जे पुण चउप्पयाणं, ते नियमा होंति देवाणं ॥ ८२ ॥

द्विपदाक्षराः । के ते ? प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराः । एतद्बहुले प्रश्ने मनुष्या द्रष्टव्याः । अकर्मभूमिकान्तरद्वीपकाश्च । चतुर्थ[प० ४९, पा० १]वर्णो(र्गो ?)याश्चातुष्पदाक्षराः, ते(तैः ?) उत्तरस्वरयुक्तैर्भवनपतिव्यन्तरा ज्ञेया इति ॥ ८२ ॥

अपदाणं जो गमओ, सो चेव य होंति नारयाणं पि ।
बहुपायाणं तइओ, सर(सा)त्तयवो होइ पक्खीणं ॥ ८३ ॥

अपदाक्षरा घ झ ढ पूर्वोक्ताः । द्विपद-योनौ लब्धायां घ न ब द्दा नामब्रवतोय(?)स्याभि-व्यञ्जको भवति । तदा पक्षमे(क्षिणो?) सत्त्वा भवन्ति ॥ ८३ ॥

मणुअक्खरेसु मणुआ, इत्थीए सेसएसु नायव्वा ।
हस्स[स्स]रा य णिद्धा, सेसा ल(लु)क्खा सरा सव्वे ॥ ८४ ॥

दर्शनार्थं पुनरुपन्यासः । प्रश्ने मनु-मनुष्याक्षराः प्रागुक्ताः । विशेषोप[प० ४९, पा० २] प्रथम-तृतीयवर्गप्रतिबद्धाः । द्वितीयवर्गाक्षर-जाक्षरबहुले मनुजा ज्ञेयाः । के ते मनुजाक्षराः ? । अ इ उ ए एते पञ्च(?)स्निग्धाः । एतद्बहुले प्रश्ने बहुले प्रश्ने स्त्री ज्ञातव्या । ह्रस्वस्वराः, के ते ? एतद्बहुले प्रश्ने स्त्रिया(यो) वक्तव्याः ॥ ८४ ॥
पुरुषा [आ]देश्याः । शेषाः दीर्घाः सप्त स्वराः ।

सरूघ(घ ?) मादिणो य वग्गा, पंच य अणुणासिया भवे लुक्खा ।
णिद्धा कगादिवग्गा, तत्थ य कज्जं तु सयणगाया(?यं) ॥ ८५ ॥

ये एते चतुर्विधा ब्राह्मणादय उक्ताः, तेष्वेव पूर्वोक्तवर्गेषु प्रथमो वर्गस्तृतीयवर्गा(र्ग)श्च पुमान् ज्ञेयः । द्वितीय-चतुर्थवर्गौ स्त्रीसंज्ञौ । पञ्चमो वर्गो नपुंसकसंज्ञः । तत्र पुमांस्त्र(स्त्रि)विधो बाल-तरुण-स्थविर इति । योषि[प० ४५, पा० २]दपि त्रिविधा बाला तरुणी स्थविरा चेति । नपुंसकमिति(मपि) त्रिविधमेव बालं तरुणं स्थविरं चेति । स्त्री-पुं-[नपुं]सकान्येतानि प्रत्येकं त्रिविधान्युत्तम-मध्यमाधमत्वेन द्रष्टव्यानि । विवेकमेषां वक्ष(क्ष्य)माणलक्षणगाथया दर्शयिष्यति ॥ ७५ ॥

तह चेय कम्मभा(भू)मा, अकम्मभूमा य अंतरदी(द्दी)वा ।
एदे कमेण सव्वे, सणामणिदे(द्दे)सउ(ओ) जाण ॥ ७६ ॥

तथा चैक(यं) कर्मभूमयः । देयाः प्रथमवर्गाक्षराः, अन्तरदीर्घस्वरैर्युक्ताः । कर्मभूमयो मनुष्या भवन्ति । अन्तरदीर्घस्वराश्च 'आ ई ऊ' । [प० ४६, पा० १] एतेऽव्यय[वा] उक्ता अपि स्फुटाः पुनरुक्ताः । तृतीयवर्गाक्षराः अन्तरदीर्घस्वरैर्युक्ता अकर्मभूमयो भवन्ति देवाः । एषां कर्मभूमिजानां अकर्मभूमिजानां योनि[ः] स्वभाव[ः] चेष्टा च वर्णाकृतिः प्रमाणमिति वक्तव्यानि । अन्तरदी(द्वी)पानां षट्पंचास(श)तां एकोरुकादीनां प्रपञ्चो नेकधा(ऽनेकधा?) । तेषां च स्वनामनिर्देशा[त्]परिज्ञानं कर्त्तव्या(व्य)मिति ॥ ७६ ॥

॥ जीवसमा[स]प्रकरणं समाप्तम् ॥

धातुस्सरा सहस्सा, कगादिवग्गाणुरासिया दुपए ।
बीओ दसमो य सरो, चउप्पए खाइवग्गो य ॥ ७७ ॥

प्रश्ने प्रथम-[प० ४६, पा० २]तृतीय-पंचमवर्गाक्षराणिव(ण्यपि)के प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाणामेवाक्षरा एकस्मिन् उकारेण धातुस्वरेण ह्रस्वेन युक्तो(क्ताः) तेषामेवान्यतमस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन द्विपदजीवचिन्ता विज्ञेया । प्रश्ने द्वितीयवर्गाक्षरबहुले द्वितीय आकारो दशम औकारो(र)स्तयोरन्यतरेण द्वितीयवर्गाक्षरेषु युक्तेषु ताभ्यां वा चतुष्पदचिन्ता विज्ञातव्या ॥ ७७ ॥

अपयाणं घ झ ढा खलु, पयाकुलयाण(ल्लाणं च) ध भ व हा चउरो ।
चउरट्ठमबारसमा, [प० ४७, पा० १] सरा य दोण्हंमि सामण्णा ॥ ७८ ॥

घ झ ढ बहुले प्रश्ने ईकारे ऐकारे अकारेण च सविसर्गेण एभिस्त्र(स्त्रि)भिः स्वरैर्युक्तेषु । एषां चान्यतमाक्षरस्यानन्तराक्रान्तस्वराणामन्यतमोऽग्रतोऽनन्तरमवस्थिते अपदा ज्ञेयाः । ध भ व हा श्चत्वारः, एतैरेव स्वरैस्त्रिभिर्युक्ताः पूर्वोक्ता(क्त)न्यायेन पादसंकुलाः प्राणिनो ज्ञेया इति ॥ ७८ ॥

जइ पढम-तइय-पञ्चम-वग्गे पण्हक्खराइ दीसंति ।
तो दुपय-जीवचिंता, चउप्पयाणं पि [बि]चउत्थे ॥ ७९ ॥

अन्य[प० ४७, पा० २][द्]पि परिपाट्या उक्तमपि किञ्चिद्विशेषमधिकृत्योच्यते—प्रथमवर्गस्य तृतीयवर्गस्य पञ्चमवर्गस्य च सम्बन्धिनो यदा प्रश्नाक्षरा बाहुल्येन दृश्यन्ते तदा द्विपदजीवचिन्ता ज्ञातव्या । द्विचतुर्थवर्गाक्षराणां बाहुल्ये चतुष्पदा ज्ञेया[ः] ॥ ७९ ॥

भवणवइ-वाणवंतर-जोइस-वेमाणिया तहा देवा ।
तेसि दस अट्ठ पंच य, व(बा)रस णव पंच य वियप्पा ॥ ८० ॥

दश प्रकारा भवनवासिनः, तद्यथा – असुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णा-ऽग्नि-वात-स्तनितो-दधि-द्वीप-दिक्कुमाराः । अष्ट प्रकारा व्यन्तराः – किंनर-किंपुरुष-[प० ४८, पा० १]महोरगा(ग)-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः । पञ्च भेदा ज्योतिष्काः – सूर्य-चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतारकाश्च । वैमानिका अनेकप्रकाराः – सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रार-आणत-प्राणत-आरण-अच्युताद्या द्वादशकल्पोपपन्नकाः । अपरे नवग्रैवेयकाः–अधोमध्यमोपरि-विभागस्थाः । तथाऽनुत्तरविमानवासिनः पञ्चप्रकाराः – विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजिताः सर्वार्थ-सिद्धसंज्ञाः । एते स्वभावनिर्देशतो विज्ञातव्याः ॥ ८० ॥

सिद्धाण आदिवग्गो, देवाणं होंति तिण्णि वग्गाओ(उ) ।
दो चेव मानुपा(णुसा)णं, [प० ४८, पा० २] सेसा तिरियास(ण) वग्गा हु ॥८१॥

लोकाग्रे व्यवस्थिताः सिद्धा अशेषविमुक्ताश्च अकारबहुले प्रश्ने । [क च ट बहुले प्रश्ने ?] वैमानिका देवा ज्ञेयाः । त प बहुले प्रश्ने मनुष्या ज्ञातव्याः । य श बहुले प्रश्ने उत्कृष्टाति(स्ति)र्यग्गतयो ज्ञेयाः ॥ ८१ ॥

दुपयक्खरेसु दिट्ठे, सव्वे दुपयक्खरा मणुस्साणं ।
जे पुण चउप्पयाणं, ते नियमा होंति देवाणं ॥ ८२ ॥

'द्विपदाक्षराः । के ते ? प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराः । एतद्बहुले प्रश्ने मनुष्या द्रष्टव्याः । अकर्मभूमिकान्तरद्वीपकाश्च । चतुर्थ[प० ४९, पा० १]वर्त्ता(र्गी ?)याश्चातुष्पदाक्षराः, ते(तैः ?) उत्तरस्वरयुक्तैर्भवनपतिव्यन्तरा ज्ञेया इति ॥ ८२ ॥

अपदाणं जो गमओ, सो चेव य होंति नारयाणं पि ।
बहुपायाणं तइओ, सर(सा)वयवो होइ पक्खीणं ॥ ८३ ॥

अपदाक्षरा घ झ ढ पूर्वोक्ताः । द्विपद-योनौ लब्धायां ध न थ हा नामत्यघसोय(?)स्वाभिव्यञ्जको भवति । तदा पक्षमे(क्षिणो?) सत्त्वा भवन्ति ॥ ८३ ॥

मणुअक्खरेसु मणुआ, इत्थीए सेसएसु नायव्वा ।
हस्स[स्स]रा य णिद्धा, सेसा ल(लु)क्खा सरा सव्वे ॥ ८४ ॥

मनुष्याक्षराः प्रागुक्ताः । विशेषोप[प० ४९, पा० २]दर्शनार्थं पुनरुपन्यासः । प्रश्ने मनुजाक्षरबहुले मनुजा ज्ञेयाः । के ते मनुजाक्षराः ? । प्रथम-तृतीयवर्गप्रतिबद्धाः । द्वितीयवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने स्त्री ज्ञातव्या । ह्रस्वस्वराः, के ते ? अ इ उ ए एते पञ्च(?)स्निग्धाः । एतद्बहुले प्रश्ने पुरुष [आ]देश्याः । शेषाः दीर्घाः सप्त स्वराः । एतद्बहुले प्रश्ने स्त्रिया(यो) वक्तव्याः ॥ ८४ ॥

खरुघ(घ ?) मादिणो य वग्गा, पंच य अणुणासिया भवे लुक्खा ।
णिद्धा कगादिवग्गा, तत्थ य कज्जं तु सयणगया(?यं) ॥ ८५ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चम-वर्गा एते त्रयो वर्गा रुक्षा(रूक्षाः) । प्रथम-तृतीयवर्गौ[स्निग्धौ] । स्निग्धवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने स्व-जनसम्बन्धे कृते कार्यं द्रष्टव्यम् । रूक्षाक्षरबहुले प्रश्ने पर-जनसंबन्धे कृतं कार्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८५ ॥ एतदेवाह—

परजणकयं [प० ५०, पा० १] च कज्जं, मुणेह सव्वं लुक्खएसं(क्खरेसु) पि(?) ।
मिरसे पमयासहियं, कज्जं तह [पुत्त]भंडकयं ॥ ८६ ॥

रूक्षाक्षरबहुले प्रश्ने पर-जनकृतं कार्यम् । स्निग्धरूक्षाक्षरबहु[ले] प्रश्ने प्रमदासंयोगार्थे भार्या-पुत्रकार्यं च ज्ञातव्यम् ॥ ८६ ॥

पढमक्खरेसु बाला, मज्झेसु य जोव्वणंमि वट्टंता ।
अतिगएसु अ थेरा, जीवा पण्हेसु णायव्वा ॥ ८७ ॥

प्रथमवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने बाल[ः], पुमां(मान्) स्त्री नपुंसकं च भवति । तृतीयवर्गाक्षरे-ष्वधिकृतेषु दृष्टेषु एतान्येव स्त्री-पुं-नपुंसकानि सयौवनान्यादेस्या(श्या)नि । पञ्चमवर्गाक्षरा(रे)ष्व-धिकृतेषु दृष्टेषु व(वृ)द्धानि द्रष्टव्यानि । द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराधिके दृष्टे एतान्येव मध्यमवयान्या-देश्यानि ॥ ८७ ॥

सामा कण्हस्सामा, गोरी णीला य रत्तसामाच्चेव(°मा य ?) ।
एवं पंच [प० ५०, पा० २] वि वग्गा, कमसो पण्हंमि य विभत्ता ॥ ८८ ॥

प्रथमवर्गः स्या(श्या)मः । द्वितीयो वर्गः कृष्णश्यामः । तृतीयो वर्गो गौरः । चतुर्थो वर्ग(र्गो) नीलः । पञ्चमो रक्तश्यामः । एवं पञ्चाप्येते वर्गाः क्रमस(शः) प्रविभक्ताः । ए[ते]षां मध्ये येषां [वर्णानां] बाहुल्यं भवति तैः वर्णः(र्णै)निर्देश्य(शः) कार्यः ॥ ८८ ॥

जारिसय(यं) परपक्खं, संजुत्ता तारिसा तहिं सामा ।
हीणा समाऽहिया वा, सेसा परपक्खसंजुत्ता ॥ ८९ ॥

यादृशः परपक्षः । कोऽसौ परपक्ष ? इत्यभिहन्ता भण्य[ते] । तस्याभिहन्तुः यादृशा रूकस्या(क्षश्या)माद[प० ५१, पा० १]यो वर्णा येऽभिहता[ः] तादृश्या(शा)स्ते ज्ञेयाः । हीना(नाः) समा [अ]धिक्य(का) वा ते वर्णास्त्र(स्त्रि)विधाः । तत्र हीना आलिङ्गिताः, समा अभिधूमिताः, अधिका दग्धाः । परपक्षग्रहणेन च पूर्वाभिहता आलिंगिता [अ]भिधूमिता दग्धाः ॥ ८९ ॥

॥ मनुष्यप्रकरणं समपञ्चं समाप्तम् ॥

पक्खी दिट्ठे सत्तमसरे य वग्गे य पढमए जलया ।
दसमसरे य कवग्गे, थलया पखी(क्खी) हु णायव्वा ॥ ९० ॥

सप्तमस्वरः एकारः । प्रथमवर्गो अकार(रः), तस्याप्रधि(°स्याधिक्ये ?)के प्रश्ने जीवयोनौ प्राप्रधे(लब्धे) जल[प० ५१, पा० २]जः पक्षी ज्ञेयः । दशमस्वर औकारः कवर्गग्रहणेन ककारः केवल उच्यते । औकारे ककारस्योपरिगतो-ऽग्रतोवाऽनन्तरमवस्थिते जीवयोनौ लब्धायां थलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः ॥ ९० ॥

नवमसरे वग्गंमि, तइएँ पक्खिणो तहा जलया ।
थलया बारस अट्ठम, सरे चउत्थे टवग्गंमि ॥ ९१ ॥

नवमस्वर उ(ओ)कारस्तृतीयवर्गचकारस्योपरिगतोऽग्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते जलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः। द्वादशमस्वरः अकारः सविसर्गः, अष्टमस्वरः ऐकारश्चतुर्थवर्गः टकारः। टकारेण च स्थलजा· पक्षिणो ज्ञेयाः पूर्वोक्तन्यायेनेति ॥ ९१ ॥

अणुणा[प० ५२, पा० २]सिएसु पंचसु, तीसु य धाउस्सरेसु णायव्वा ।
पक्खीओ कुक्किआ खलु, वायसगिद्धा य चडया य ॥ ९२ ॥

ङ ञ ण न म बहुले प्रश्ने एषामन्यतमे धातुस्वरात्रयोऽन्यतमयुक्ते जीवयोनौ लब्धे पक्षिणो ग(हि)ता[ः] भा(षा?)सादयश्चटका गृध्रा वायसाश्च ज्ञेयाः। धातुस्वराः के? उ ऊ अं इत्येते त्रयः॥९२॥

॥ सप्तपञ्चं पक्षिप्रकरणं समाप्तम् ॥

सं(सिं)गी कचाइवग्गे, गजा[इ]वग्गे चउप्पया ख(खु)रिणो ।
हुस्स[र]सरा हु सव्वे, सिंगीखुरीण तु सामण्णा ॥ ९३ ॥

ककारस्य चकारस्योपरिमतो(गते)न चतुर्णां ह्रस्वस्वराणामन्यतमेन तयोरेव ककार-चकारयोरग्रतोवाऽवस्थितेन, ना [प० ५३, पा० १] नरा[ः] शृंगिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः। के ते ह्रस्वस्वराः? अ इ उ ए। अधरस्वरेण ऐकारेण औकारेण च युक्तस्य ककारस्य च च(च?)कारस्य वा तयो(तो)-ऽग्रे स्थितयोः एकारौकारयो आरण्याः शृंगिणो ज्ञेयाः। गकारस्य जकारस्योपरिगतो ह्रस्वस्वराणामन्यतमेग(न) तयोरेव गकार-जकारयोरग्र(ग्र)तो वाऽवस्थिते खुरिणच(श्च)तुष्पदा ज्ञेयाः। गकारे जकारे वा अधरस्वरसयुक्ते खुरिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः। गाथयाऽनुक्तमप्येत[द्] व्याख्यातम् ॥९३॥

बितिउ(ओ) दसमो य सरो, खछादिवग्गंमि चेव दंतीओ ।
अणुणासिएसु पंचसु, णहिणो धातुस्सरेसुं च ॥ ९४ ॥

द्वितीय [प० ५३, पा० २] आकारः, ऊ(औ)कारो दशमः, खकार-ठ(छ)कारस्योपरि गतस्तयोरेव ख-छयोरग्रतो वा व्यवस्थिते आकारे औकारे वा दन्तिनो ज्ञेयाः। ङ ञ ण न मे सु(पु) पञ्चसु धातुस्वरयुक्तेपु ङ ञ ण न मा ना वाऽग्रतोऽनन्तरमवस्थितेषु नखिन्नो(नो) ज्ञेयाः। धातुस्वराः उ ऊ अं ॥ ९४ ॥

घ झ ढे सु होइ दाढी, दंती तह वस(ध न) व हे सु णायव्वा ।
चउरट्ठमबारसमस(स्स)रो य दोण्हं पि सामन्ना ॥ ९५ ॥

घ झ ढा नासुपरिगते इ(ई)कारे [प० ५४, पा० १] ण(ऐ)कारे सविसर्गे च(अ)कारे घ झ ढा ना मग्रस्थितेषु वा ईकारादिषु दढि(ष्ट्रि)णः सूकरादयो द्रष्टव्याः। ध न व हा नामुपरिगते(तै)स्तैरेव सगि(म)स्वरैरग्रतो वा व्यवस्थितैर्दन्तिनो द्रष्टव्याः। के त्रयः स्वराः ? ई ऐ अः ॥ ९५ ॥

दिट्ठे चउप्पयंमि य, पण्हे जय दीसए उवरि मत्ता ।
तो सिंगिणो ह भणिया, खुरिणो अह मत्तया होंति ॥ ९६ ॥

गोर्विकारः क्षीरदध्यादिकः जीवावयव एव गाथया अनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः । [प० ५४, पा० २] शृंगिषु सिद्धेषु अराक्षराभिव्यञ्जको न(व)द्विकारो ज्ञेयः । चतुष्पदयोनौ लब्धे यदोपरिमात्रायाहुल्यं दृश्यते तदा शृंगिणो ज्ञेयाः । तस्मिन्नेव चतुष्पदयोनौ लब्धे यदा अधोमात्रावाहुल्यं दृश्यते तदा खुरिणो ज्ञेयाः । तस्मिन्नेव चतुष्पदयोनौ लब्धे उकारबाहुल्यं खुरिणो ज्ञेयाः । उ(ओ?)काराकारयोस्तुल्ययोउ(रु)परिगतस्य साअ(सर्प?)योनिः । ऊ(ओ)कारस्थो(स्यो)परिस्थितस्य नरिम्रो(नो) ज्ञेयाः । [प० ५५, पा० १] तथोत्तरेणाधरेण दृष्टेनोत्तमं नखिनं खुरिणं या लक्षयेत् । अधरेणावसं-(०धमं ?)नखिनं खुरिणं या लक्षये[त्] ॥ ९६ ॥

॥ चतुष्पदप्रकरणं समाप्तम् ॥

सिंगिससा(मा ?) किण्हादी, हत्थि(दन्ति)समा राइला(नायरा?) मुणेयव्वा ।
सेसा तिण्णि वि वग्गा, वण्णंतरियाण सप्पाणं ॥ ९७ ॥

येषु शृंगिणोऽभिहतास्तेष्वेवाकृष्णपौरा द्रष्टव्याः । उत्तरस्वरैर्नागराः, अधरस्वरैरारण्याः । येषु दन्तिनोऽभिहतास्तेष्वेव णियट्ट(?) द्रष्टव्याः । शेषा वोवकारेणा(?)[प० ५५, पा० २]यवि(अवी)-शिष्टानां अवहानां बाहुल्ये वर्णान्तरिको(काः) चित्रकादयः सर्पा द्रष्टव्याः ।.........लब्धायां अपदेषु च लब्धेषु, एवंविशिष्टो वाच्य इति ॥ ९७ ॥

॥ जीवचिन्ता समाप्ता ॥

अथ तत्थ धाउचिंता, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
धम्मा[ऽ]धम्मा [य] तहा, धम्म(म्मा) लोहं अलोहं च ॥ ९८ ॥

धातुचिन्ता द्विविधा भवत्यानुपूर्व्या धाम्या [अधाम्या] च । अत्र धाम्या लोहलक्षणा, अधाम्या मुक्ताप्रवालादिलक्षणा ॥ ९८ ॥

कंचणरययं तंमं, तउ सीसं आर कंस लोहं च ।
लोहं अट्ठवियप्पं, प्प(प)धाण तह अप(प्प)हाणं च ॥ ९९ ॥

काञ्चनं, रजतानां (रजतं), [प० ५६, पा० १] ताम्रं, त्रपु, सीसकं=धंगं, आरं=वृ(ब्र)ह्मरीरिका वृत्तं लोहं वा, कंसं कृष्णलोहानि(हमि)त्यष्टभेदम् । उत्तरा[क्षर]बहुले प्रश्ने लोहमुत्तमं सुवर्णादि ज्ञेयम् । अह(ध)राक्षरबहुले प्रश्ने लोहमधमं त्रपु-सीसक-कृष्णलोहादि ॥ ९९ ॥

इट्टा य मट्टिया सक्करा य धम्मा इमे य लोहा य ।
रयणा य पत्थरा पुढवि मट्टिया चेव णो धम्मा ॥ १०० ॥

इष्टका स्थूरकर्परा, [मृत्तिका], स(श)र्कराश्च धाम्याः । त्रीण्येतान्यपि । लोहानि(नि) । रत्नाति(नि) पाषाणा[ः], पृथीवि(वी), मृत्तिका चाधाम्या धातवश्चत्वारः ॥ १०० ॥

रयणा य इदंनीला, मरगय तह वेरुलीयजाजी(ती)या ।
अयकंत-सूरकंता, [प० ५६, पा० २] चंदकंता य नायव्वा ॥ १०१ ॥

इन्द्रनील-महानील-मरक्त-वैडूर्याः, अयस्कान्ताः, सूर्यकान्ताः, चन्द्रकान्ता च(श्च) रत्न-विशेषा ज्ञेयाः ॥ १०१ ॥

मोत्तिय-पवालमाई, भवंति एवंविहा [तहा] अन्ने ।
ते रसा(सा)रा णिस्सार(रा), य होंति पुण संखमादीया ॥ १०२ ॥

मौक्तिक-प्रवालाः । एवंविधा[ः] तथाऽन्ये सह्वादर्तियो (पि शंखादयो) विमलकारादय[ः] ते सारा असार(रा)श्च । तत्रोत्तराक्षरबहुले प्रश्ने धातुयोनौ लब्धे ससारा मुक्ता-प्रवालादयो ज्ञेयाः । अधराक्षरबहुले प्रश्ने निःसारा विमल-संख(शङ्ख)-सु(शु)क्ति-कपर्दकप्रभृतयः ॥ १०२ ॥

सीय-द्दहा य [स]मुदा(द्दा), णदी तडागा [प० ५७, पा० १] तहेव पस्सध(स्सव)णा ।
एक्केक्कं तं दुविहं, थिरं चलं च्चेय नायव्वं ॥ १०३ ॥

सीतजला(? शीतह्रदा)नि समुद्रा नदी तटाकानि प्रश्र(स्र)वणमेकैकम् । तेषां द्विविधं — थिरं चलं चेति । तत्र स्थिरमवहमशोश(षं) चोत्तराक्षरैः द्रष्टव्यम् । यच्चा वहति शुष्यति च तच्चल-मधराक्षरैर्द्रष्टव्यम् । नामाक्षरलावे(पे)न वस्तु-विचार-स्थानं सन्निवेसा(वेशा)दि ज्ञेयम् ॥ १०३ ॥

उण्हंगारा तह मोमुणा(मुम्मुरा) य अण्णा य एवमाईया ।
उक्का विज्जा(ज्जू) अव(स)णी णिग्घाउ(ओ) सूरकंताउ ॥ १०४ ॥

उष्णा[ङ्]गाराश्च मुमु(र्मु)रग्रहणेन कुकूलमुच्यते । एतौ च धाम्यधातुसंज्ञौ वाक्याक्षरैर्ज्ञा[प० ५७, पा० २]त्व्यौ । उल्का विद्युदशाति(निः) निर्घातः सूर्यकान्तं पञ्चैते अधाम्यधातु-सञ्ज्ञाः । वाक्याक्षरो(र)नामतो ज्ञेयाः ॥ १०४ ॥

एसा(गा?) पत्थरजी(जाई), से(सा) सवियप्पा पधाण अप्प(प)हाणा ।
सा परिकमि(म्मि)[य अ]परा, णाअधं(व्वं) जं जहिं कमइ ॥ १०५ ॥

पाषाणजातिसामान्यादेका पाषाणजातिः । सा द्विभेदा भवति । प्रधाना अप्रधानाश्च (च) । तत्र उत्तराक्षर(रैः) परिकर्म(र्मि)ता पाषाणअतित्र(जातिर्द्र)ष्टव्या । अप्रधानाश्च (च) अधराक्षरैः अपरिकर्म(र्मि?)तपाषाणजातिद्र(र्द्र)ष्टव्या । [प० ५८, पा० १] अप्रधाना च । यथायोगं व-स्तु(स्तु)घलंमः कार्यः खनागनि । परिकर्मिता [टं]कघटिता । देशतश्च विज्ञातव्या अर्धत्याथा भारता[ः] ज्ञेयाः । द्रोणमुखाः, के ? यत्रागम्य यानपात्रान(ण्य)वतिष्ठते(न्ते) ते देशा द्रोणमुखसंज्ञाकराः (संज्ञकाः?) । खेटकाः, के ? उच्चप्रदेशबहुले भूभागे यो निवसते जनपदः स खेटकसंज्ञः । पृथिव्याः एते भेदा भवन्ति । व्याख्यामि मृत्तिकाभेदमिति वक्ष्यमाणोपन्यासः ॥ १०५ ॥

हरियालमब्भपडलं, [प॰ ५८, पा॰ २] मणसि(स्सि)ला पारयं च बोधवं ।
तह च(चु)ण्णपारदो वि य, मट्ट(ट्टि)यभेदा मुणेयव्वा ॥ १०६ ॥

हरितालम्, अभ्रपढ(ट)लम्, मनःसि(शि)ला, पारय(दं), चूर्णपारत(द) । मृत्तिकाभेदाः पञ्च । तत्र चूर्णपारत(द) इति द्वितीयपार[द]जाति चूर्णाकारं द्रष्टव्यम् ॥ १०६ ॥

पण्हक्खरेहि एते, णायव्वा जे जहा समुदि(द्दि)ट्ठा ।
अधरोत्तरक(क्क)मेण व, सणामनिद्दो(द्दे)सतो यावि ॥ १०७ ॥

प्रश्नाक्षरैरेतैर्यथोक्ता भेदा विज्ञेयाः । यदा(था) एषां प्रधान्य(नता)ऽप्रधानता उत्तराधरक्रमेण ज्ञेया । यावत्स्वनामनिर्देश इति ॥ १०७ ॥

ख छ ठ थ फा घ झ[ढा] वि य, दिट्ठे धाउंमि होइ धम्माओ ।
अट्ठक्खरा हु एते, सेसमधम्मख(क्ख)रा सवे ॥ १०८ ॥

ख छ ठ थ फा(फ) घ झ ढा नामेषा[मष्टा]नां बाहुल्येन धातुयोनौ लब्धायां धातुद्र(द्रे)ष्टव्य(व्यो) धान्यः । शेषाश्च [प॰ ५९, पा॰ १] 'र घ ध भ य ह्रा' इत्येते षट् गृह्यन्ते । ना(ता)न्येव धातुयोनौ लब्धायां एषा षण्णां बाहुल्येन धातुरधान्य आदेश्य इति ॥ १०८ ॥

पढमेकारवररस(ऽरसधार)समसरे य कणयं तु क ख ग घेसुं च ।
पंचट्ठमयसरेसुं, पढमेऽणुणासिए य तउं ॥ १०९ ॥

पढ(प्रथ)मस्वर अकारः, एकादशस्वरः अकारः सानुस्वारः, अकारः सविसर्ग(र्गो) द्वादस(श)स्वरः । एतद्बहुले प्रश्ने धातुयोनौ लब्धे कनकं ज्ञेयम् । क ख ग घ(घा) नामन्यतमस्योपरिगतो(ते)नैतेषामन्यतमेन स्वरेण कनकमेव ज्ञेयम् । क ख ग घा नामन्यतमाक्षरेण ऐकारेण युक्ते धातुयोनौ लब्धाया त्रपु ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

च छ ज झ य र ल व एसु य, रययं बीयस(स्स)रसत्तमेसु च ।
अणुणासिए य वितीए, छट्ठे य सरे [प॰ ५९, पा॰ २] हवइ सीसं ॥ ११० ॥

च छ ज झ [य] र ल वे षु च प्रश्ने बहुडुषे(लि ?)ष्वेषामेवान्यतमाक्षरे द्वितीयस्वरेण सप्तमस्वरेण च युक्ते धातुयोनौ लब्धायां रजतं ज्ञेयम् । च छ ज झ [य] र ल वे षु च, [ए]षामन्यतमाक्षरा(र)बहुले प्रश्ने अनुनासिके च द्वितीये धातुयोनौ लब्धाया ज(ऊ)कारेण च युक्ते शीसकं ज्ञे[प॰ ६०, पा॰ १]यम् ॥ ११० ॥

ट ठ ड ढ ई कारसि(म्मि) य, तंबं कंसं पुण त थ द घ(धे)सुं च ।
प फ ब भ णवमे य सरे, चउत्थ अणुणासिए आरं ॥ १११ ॥

ट ठ ड ढ(ढा)नामन्यतमाक्षरबहुले प्रश्ने चतुर्थस्वरेण युक्ते धातुयोनौ लब्धायां ताव(म्र)मादेश्यम् । तथा इमो(?) त थ द धा ना पञ्चाना बहुले प्रश्ने, त थ द धा नां वाऽन्यतमाक्षरे[प॰ ६०, पा॰ २]ण चतुर्थस्वरेण युक्ते कंसमादेश्यम् । प(प) फ ब भ इत्येषां पञ्चानामन्यतमाक्षरबहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमाक्षरेण नवमस्वरेण उ(ओ)कारेण युक्ते धातुरादेश्य आरं यद्वा रीरिका यद्वलोह वा ॥ १११ ॥

हत(व)इ मकारे लोहं, दसमसरे अट्ठमंमि वग्गंमि ।
एते उ धम्मभेया, अधम्मभेया इमे वोच्छा(च्छं) ॥ ११२ ॥

मकारेबहुले प्रश्ने शकारोऽष्टसा(मा)क्षर(रः) तद्बहुले च, औकारः दशमः स्वरः, तेन यु युक्ते मकारे शकारे वा धा..

..................*न पवालं हेममातिण्णो(?मोत्तियं) ।
कंतमाण(सं मणिं च)कायं सीसट्ठाणं चाय(च?) नीसासं(रं) ॥ ११३ ॥

अधाम्यधातुयोनौ लब्धायां रजताक्षरा ये उक्तास्तेषु दृष्टेषु मौक्तिकं द्रष्टव्यम् । सुवर्णाक्षरा ये उक्तास्तेषु दृष्टि(दृष्टेषु?) स्वराश्च येऽभिहिता तेस्व(ष्व)धाम्यधातुयोनौ लब्धायां प्रवालकं वक्तव्यम् । कंसाक्षरा येऽभिहिता स्वरयुक्तो(क्ता) आ(अ)धाम्यधातुयोनौ लब्धायां तेषु मणयो निसा(स्सा)रा ज्ञातव्याः । कायमादिका येस्व(ष्व)क्षरेषु सीसकं द्रष्टव्यम् । तेष्वेव अधाम्यातुयोनौ लब्धायां निःसा[रास]मणयो वि[म]लकादयो विज्ञातव्याः ॥ ११३ ॥ [प० ६१, पा० २]

॥ धातुप्रकृतिः समाप्ता ॥

धम्मंमि दिट्ठपुवे, [घडियम]घडियं च तत्थ णायवं ।
दुविहं च होइ तं पुण, णाणय अण्णाणयं चेव ॥ ११४ ॥

धाम्यधातौ दृष्टे तद् घटितमघटितं चेति । यच्च घटितं त[द्] द्विविधम्—केयूररूपकद्रमादि, यत्तक्ष(यच्च) [नाणकम्] । अनाणकम्—कुंडलनूपुररसनाकेयूरकटकादिकम् ॥ ११४ ॥

दिट्ठंमि णाणयंमि [प० ६२, पा० १] य, सम्मिस्सं होइ [तह य] उम्मिस्सं ।
इतरं पि होइ दुविहं, आहरणं भायणवि[य]प्पं ॥ ११५ ॥

अक्षरलब्ध्यघातके (लब्ध्यंकिते?) नूपुरादौ नाणके । तद्द(च्च) नाणकं द्विविधम्—मिश्रममिश्रं चेति । तत्र मिश्रं सुवर्णरजतताम्रैस्तिते(स्त्रिभिरित?)रेषां द्वयेन वा यत् क्रियते तन्मिश्रम् । यत्सुवर्णेनैकेन रजतेन वा क्रियते नाणकं तदमिश्रम् । सुवर्णा[प० ६२, पा० २]दिद्विविधं भांडक्ष-(कृ?)तमाभरणं चेति ॥ ११५ ॥

आभरणंमि य दिट्ठे, तं दुविहं देवमाणुसाभरणं ।
हिट्ठमि(ट्ठिम)उवरिमकाए, एक्केकं तं पुणो दुविहं ॥ ११६ ॥

अक्ष[र]लाभेनाभरणं यद् दृष्टं तद् द्वि[वि]धमाभरणं देवामरसीसातुपाहरणावाता (?देवाभरणं मानुषाभरणं वा ।) तत् पुनर्द्विविधम्—एकैकम्—अधःकाय(यि)कं उपरिकायिकं चेति । वहुपरिष्टाद्वे(द्वि)शेषत[ः] कथयिष्यामः ॥ ११६ ॥

पच्चुय-पपुव्वयं(मपच्चुयं) वा, एक्केक्कं तं पुणो दुहा होइ ।
पच्चोविए वि दिट्ठे, मोत्तिय-माणिक्क-उम्मिस्सं† ॥ ११७ ॥

* अत्र मूलादर्शे एका सपूर्णा पंक्तिरक्षरशून्या स्थिता लभ्यतेऽतोऽस्या गाथायाष्टीकायाः कियान् भागस्तथैवामेतनगाथायाः प्रथमः पादो विनष्टः ।

† आदर्शे 'मोत्तियं अमाणिक्कुम्मिस्सएण' इति बहुविकृतपाठो दृश्यते ।

यदाभरणमधःकायिकमौपरिका[प० ६३,पा० १]यिकं च । त[द्] द्विविधमुक्तम् । प्रत्युप्त(प्त)मप्रत्युप्तं च । तदेकैकं पुनः द्विविधम् । प्रत्युप्तमिति संश्लिष्टमणिमौक्तिकं कटकाद्याभरणमुच्यते । पूर्वोक्तहेममौक्तिकाक्षरबहुले प्रश्ने प्रागुक्तन्यायेनैव प्रत्युप्तं ज्ञेयम् ॥ ११७ ॥

उवरि[य]णत्रण(ण्ण)सहिया, उट्ठा(दट्ठा) मत्ताउ जा य दीसंति ।
आभरणं जाणिज्जा, उवरिं श(स)रीरंमि देहि(ही)णं ॥ ११८ ॥

प्रश्नाक्षराणां उपरि दग्धमात्रा दृश्यन्ते तदाऽऽभरणमवगच्छ, उपरि शरीरस्य देहभृतामिति ॥ ११८ ॥

अहराओ अहरेसुं, मत्ताओ जारिसाओं तारिसयं । [प० ६३,पा० २]
सं(तं) ठाणं [प]ण्हंमि य, धाउविसेसेण नायव्वं ॥ ११९ ॥

अधराधिकाक्षरप्रश्ने अधःकायिकमाभरणं ज्ञेयम् । उत्तराक्षरबहुले प्रश्ने उपरिकायिकमाभरणं ज्ञेयम् । अधोमात्राधिकप्रस्न(श्ने) अधःकायिकमाभरणम्, तिर्यग्मात्राधिकप्रश्ने तिर्यग्भागे नं(ऽलं)कारो ज्ञेयः । ऊर्द्ध्वमात्राधिके प्रश्ने शरीरस्योर्द्ध्वभागे ज्ञेयं धातुविशेषेणेति ॥ ११९ ॥

दिट्ठे मणिंमि पच्चोवियम्मि जीतव(जाती य?) हो[इ] इतरं वा ।
जातीए माणिक्कं, परथ[प० ६४,पा० १]रजाती विजातीए ॥ १२० ॥

दृष्टैर्मणिभिः प्रयु(त्यु)प्तैः पूर्वन्यायेनैव यैरक्षरैः सारा उक्ता मुक्तादयो मणयः, तैः सारमणिप्रत्यु(त्यु)प्तमाभरणं ज्ञेयम् । यैश्च नि(निः)सारा विमलकादय उक्तास्तैः प्रश्ने दृष्टे(ष्टै)र्निःसारै[ः] प्रयु(त्यु)प्तमाभरणं ज्ञेयम् ॥ १२० ॥

तम्मिख(तं पि य खा)यमखय(खायं), जं तत्थ[ख]यं पुणो वि तं दुविहं ।
दुवय(ए) चउप्पए वा, दुपए पखी(क्खी) मणुस्सो वा ॥ १२१ ॥

तदाभरणं वि(द्वि)विधं खातमखातं चेति । धाम्यधात्वक्षरबहुले प्रश्ने [प० ६४,पा० २]जीवाक्षररहिते अखातमाभरणं ज्ञेयम् । जीवाक्षर उक्ते च खातमाभरणं ज्ञेयम् । तत्र जीवाक्षरैः पक्षिणो मनुजाश्च ज्ञेया[ः] । चतुष्पदजीवाक्षरैर्दंती नखी शृङ्गी खुरी वा ज्ञेयः । पूर्वो(र्वा)क्षरने(भे)देन पूर्वोक्तन्यायेन च ॥ १२१ ॥

दिट्ठे चउप्पये गामवासिणो रण्णवास(सि)णो चेव ।
दंती सिंगी य खुरी, णही य दाढी य वा होज्जा ॥ १२२ ॥

दृष्टे चतु[ष्प]दे, के ते चतुष्पदाः ? द्विविधाः–ग्रामवासिनोऽरण्यवासिनश्च । पूर्वोक्तास्ते दन्ती शृङ्गी खुरी नखी दंष्ट्री चेति पञ्चविधाः । पूर्वोक्तन्यायेन तैःस्व(स्वै)र[प० ६५,पा० १]क्षरैः ज्ञेयाः ॥ १२२ ॥

पच्चोविए वि दिट्ठे, जो गमउ(ओ) देवमाणुसाभरणो ।
सो चेव य सविसेसो, णायव्वो भायणेसुं पि ॥ १२३ ॥

प्रत्युप्तेऽपि दृष्टे यैरक्षरैर्देवानां मानुषाणां वा आभरणानि दृष्टानि तैरेवाक्षरैः प्रश्ने दृष्टे भाजनान्यपि ज्ञेयानि । हेमाद्यक्षरैश्च हेमानि कृतानि ज्ञेयानि । यैरक्षरैस्तानि योद्धव्यानि ॥१२३॥

धाउस्सराणुणासी, छिद्दा णिदि(च्छि)द्द सेसया वण्णा ।
छिद्देसु जाण छिद्दे, णि(मि?)स्सेसु य खुम्मियं दी(द)व्वं ॥ १२४ ॥

धातुस्वरौ द्वौ उकारो(र-ऊ)कारौ, ङ ञ ण न मा: पञ्चानुनासिकाः, छिद्रा[:] । प्रथम[प० ६५,पा० २] वर्गः तृतीयवर्गश्चान्या(न्त्या?) यागाघेया(यरलवा?) वक्का(र्णा?) नि(छि?)द्रा ये च द्रष्टव्या[:] । द्वितीय-चतुर्थवर्गौ निछिद्रो(द्रौ) द्रष्टव्यौ । छिद्राक्षरवहुले प्रश्ने छिद्रे(द्रो) धातुरादेश्यः । घनाक्षरवहुले घन(नः), छिद्राछिद्रेपु मिश्रेपु दृष्टेपु खुमितं धातु द्रव्यमादेश्यम् ॥ १२४ ॥

॥ धातुयोनिः समाप्तः(प्ता) ॥

रुखा(क्खा) ग(गु)च्छा गुम्मा, लया य वल्ली य पव्वया चेव ।
तण[प० ६६,पा० १]वलय-हरित-ओसहि-जलरुह-कुहणा भवे मूले ॥१२५॥

वृक्ष-ग(गु)च्छ-लता-गुल्म-वल्मी(ल्ली)-पर्वक-तृण-वलय-हरितौ-पधि-जलरुह-कुहणा इति ॥ मूलभेदा द्वादस(श) ॥ १२५ ॥

एगट्ठिय बहुबीया, रुक्खाणं चेव होंति दो भेदा ।
सेसा वि ग(गु)च्छमादी, वण्णाण कमेण णायव्वा ॥ १२६ ॥

तत्रैकास्थि-बहुबीजाश्च द्विविधा वृक्षा भवन्ति । शेषा अपि [प० ६६,पा० २] ग(गु)च्छाद्या वर्णाकारप्रमाणादिभिरनुक्रमेण ज्ञातव्या[:] ॥ १२६ ॥

तय-मूल-कंद-साहा-पल्लव-फल-कुस(सु)ममेव णिज्जासो ।
रस-छीर-पसाहाओ, [य] मूलजाईअ(सु) भेयाई(?) ॥ १२७ ॥

त्वग्-मूल-स्कंद(ध)-शाखा-पल्लव-फल-कुसुम-बीज-रस-भेदाश्च मूल-जातिपु विज्ञेयाः । को गुणभेदः ? । सुरभि[:][प० ६७,पा० १] दुर्गंधिश्चेति । को वा रसनेवा (भेदः ?) मधुर-लवण-कटुक-कपायाविलक्षणः ॥ १२७ ॥

ग(गु)च्छा बहुप्पयारा, कप्पास-करीर-पुप्फग(गु)च्छा य ।
गुम्मादिया य जाती-कुज्जय-कणवीर-वल्ली य ॥ १२८ ॥

ग(गु)च्छा बहुप्रकाराः । के ते ? कप्पा(र्पा)स-करीर-पुप्पग(गु)च्छाय(श्च) । के पुप्प-ग(गु)च्छा भण्यन्ते ? । ये पुप्पं केवलं प्रय[प० ६७,पा० २]च्छन्ति न य(च) फलं बंधन्ते । तत्र गुल्म(ल्मा) जाति(ती) कुब्जका कणवीरं मल्लिका चेति ॥ १२८ ॥

चंपय-असोय-चूया, कुंदलयाओ व होंति विविहाओ ।
तंबोल-लवलि-पिप्पलि-मिरिया वि य होंति क(व)ल्लीओ ॥ १२९ ॥

चंपकासो(शो)कचूता लतासंज्ञकाः । कुंदश्च लतासंज्ञः । तांबो(ताम्बू)ल-पिप्पलि-मरीचाद्या वल्याः(ल्यः) ॥ १२९ ॥

दूर्वा(दुद्दा)कुसतृणवध्वपय(?)यवसालिकंगुगोधूमादीया ।
जलसंभवा य हरिया, गंधेणुयादि मुणेयव्वा ॥ १३० ॥

दूर्वा-कुस(श)-तृण-यवकय(?)-यव-सा(शा)लि-कंगु-गोधूमाद्याः तृणसंज्ञा[ः]। जलसंभवा अपि तृणा एव। हरितसंज्ञाश्च गंधेनुकाद्या देसिकाः॥ १३०॥

वलया साहा त्रिडवा, दलकंदलसरलधम्मणा(मा)दीया।
तिलमुग्गमापचण[प० ६८,पा० १] या[इय ओ]सहिओ मुणेयव्वा॥ १३१॥

वाला(वल)या सासा म(प)त्तदलं कंदल-सरल-धम्ममाद्या तिलमुग्गमाषचणकाद्या ओषधयः॥ १३१॥

पउम(मु)प्पलकुमुदाई, से(से)वालकसे(से)रुया य जलपसुणा।
....मो(नाणा?)विहा य अण्णा, सिंघा[ड]गरलि(वल्लि)यादीया॥१३२॥

पद्मोत्पलकुसुमसेयालकसेरुकाः नमो(नाना?)विधाश्चान्ये शृंगाटकवल्ल्याद्या जलरुह-संज्ञकाः॥ १३२॥

हो(हों)ति कुहणा अबीया, वसुधोर(धाए?) संभवा य जे अण्णे।
तत्थ कुहणा च(व) इयरे, भूमीरसकंदली उच्छू॥ १३३॥

अबीजाः प्राद्दृ(ट्)काल आसण्णे वसुधा जलो(ले) एयान्त[र]रसं मुंचंति तदसं(त्सं)भवास्छत्रका[ः] कुहणा[ः],अपरेऽपि तदाकृतयो ये उत्पद्यन्ते क्षर(इक्षु?)संज्ञा[ः]कंदल्यश्चेति॥१३३॥

इज्जण-वेणुय-वेता-सरकंडसयंगपवगे हे(णे)या। [प० ६८,पा० २]
बारसविभास(धा य) मूला, कहिया जिणसासणंमि सया॥ १३४॥

इजणवेणुयवेन्यसरकंडिभंगाश्च नलसालि(?) भण्यन्ते। एते पवर्गं(वंर्ग?)संज्ञाः। पर्वाणि पर्वण्युक्तेभ्योऽप्रते(ग्रे)भ्य उत्पद्यत इति पर्वगाश्च भण्यन्ते। द्वारस(दश)विधाति(नि) मूलावि(नि) कथितानि जिनसा(शा)स्त्रे॥ १३४॥

मूला कंदा य तया, साह य(प)वाला य तह य पत्तफलं।
पुप्फाणि य [बीया]णि य, जाणिज्जा जं जहिं कमइ॥ १३५॥

मूल-कंद-त्व[क्-]शाखा-प्रवाल-पत्र-फल-पुष्प-बीजा[नि] [प० ६९,पा० १] संजानीहि। तद्यथा तद(द्)[प]रिष्टाद(द्)क्ष्यति॥ १३५॥

भक्खाऽभक्खा य पुणो, भ[क्खा] तित्तादिया य पंच[र]मा(सा)।
गामारण्णा जल-थलय पहाणा अप्पहाणा य॥ १३६॥

भक्ष्या त(अ)भक्षा(क्ष्या) विविधास्ते। तत्र भक्षा(क्ष्या)स्तिक(क्त)कटुककषायाम्लमधुराः पञ्चरसाः। ग्राम्या आरण्याश्च। पुनर्द्वि(र्द्वि)विधा जलजाः स्थलजाश्च। प्रधाना [अप्रधाना]श्चेति॥ १३६॥

पण्हक्खरेहि एते, णायव्वा जे जहा समुदि(द्दि)ट्ठा।
अधरुत्तरक(क्क)मेण व, सणामणिदे(द्दे)सओ आवि॥१३७॥ [प० ६९, पा० २]

ये यथा उक्तास्ते तथा उत्तराक्षरा(र)बहुले प्रश्ने प्रचुरमात्रा[ः] स्निग्धस्वयश्च(?) सुगंधिनः सुरभीविपुला द्रष्टव्याः। अधराक्षरबहुले प्रश्नेऽपि एवं पूर्वोक्ता अल्पमात्रा रूक्षा(रूक्षा)दुर्गंधाः

नीरसाः ह्रस्वाश्च भवन्ति । तैरेव प्रश्नाक्षरै[:] ताव[द्]ज्ञेया याव[द्] नामति(नि) दृष्ट इति [प० ७०,पा० १] ॥ १३७ ॥

॥ मूलभेदाः समाप्ताः ॥

संजुत्ते फलभेदे, खाधण्णे रिक्खं(क्खरं?)मि णिप्पु(प्फ)ला भणिया ।
उवरिल्ले उवरिल्ला, अधरा [अ]धरेसु नायव्वा ॥ १३८ ॥

संयुक्ताक्षरबहुले प्रश्ने सफला वृक्षा ज्ञातव्याः । के ते संयुक्ताक्षराः ? क्ख च्छ ट्ठ त्थ प्फ ग्ग ग्घ ज्झ ड्ढ द्ध ब्भ स्थ इत्येते । [प० ७०,पा० २] चऊट्ठसखरैच(?श्च)तुर्भिरिक्षैरै(रैः) सफला वृक्षाः । उवरिल्ले उवरिल्लाक्षरैरुत्तराक्षरैरित्यर्थः । तैरक्षराणामुपरिगतैट(ट्टै)ट्टैष्ट्र(ट्टैं)क्षादीनामुपरिभागे फलं इत्यादेश्यः(श्यम्) । अधराक्षरैः उत्तराक्षराणामुपरिगते दृष्टे वृक्षादि(दी)नामधोभागे फलं वक्तव्यम् ॥ १३८ ॥

पढमे नवमे य सरे, क-चादिवग्गंमि चेव रुक्खाओ ।
बितिय-दसमे य सरे, लताओ ख छ ठ क्खरेसुं च ॥ १३९ ॥

ककार-चकारबहुले प्रश्ने [प० ७१,पा० १] ककारस्य चकारस्योपरिगते अकारे उ(ओ?)कारे वा अन्यतरस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थिते वृक्षा ज्ञेयाः । ख छ ठ बहुले प्रश्ने ख छ ठा नामेकस्मिन् द्वितीयेन आकारेण दशमेन औकारेण वा युक्तेऽमतोवाऽनन्तरमवस्थितानामन्यतरस्य लता[:] प्रत्येतव्याः ॥ १३९ ॥

थ फ र स एसुं वल्ली, तणं च धातुस्सराणुणासीया ।
चउरट्ठमबारसमे, सरंमि ग(गु)च्छा य घ झ ढे सुं ॥ १४० ॥

थ फ र स(वी) [प० ७१, पा० २] बहुले प्रश्ने वल्ली । ङ ञ ण न माक्षरबहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमे धातुस्वरान्यतमयुक्ते तेषामेवान्यतमव्या(स्या)मतो वाऽनन्तरमवस्थिते धातुस्वरे तृणं ज्ञेयम् । धातुस्वराः उ ऊ अं । घ झ ढ बहुले प्रश्ने घ झ ढा नामेकस्मिंश्चतुर्थ(र्थे)नाष्टमेन द्वादसे(शे)न वा स्वरेण युक्ते घ झ ढा नामेकस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन ग(गु)च्छा ज्ञेयाः ॥ १४० ॥

गुम्मा य ध भ व हे सुं, ग ज डे वलया हु णवम-तइएसुं ।
सत्तमसरे तह ओ[सहीओ]भणिया द ब [ल] से सुं ॥ १४१ ॥

ध स (भ) व ह बहुले प्रश्ने गुल्मा भवति(न्ति) । ग ज ड [प० ७२,पा० १]बहुले प्रश्ने ग ज डा नामेकस्मिन्नवमस्वरेण ओकारेण तृतीयेन उकारेण वा युक्तेन ग ज डा नां त्रयाणामेकस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन वलया ज्ञेयाः । वलयग्रहणे च वाल-रज्जु(ज्जू)र-पूगफल-वृक्षादय उच्यन्ते । द ब ल स बहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमेन सप्त[म]स्वरेण एकारेण युक्ते एतेषामेवान्यतम्य(म)-स्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन सप्त[म]स्वरेण ओषधयः प्रत्येतव्याः ॥ १४१ ॥

॥ एवं मूलयोनिः समाप्ता ॥

जीवक्खरेसु मूलं, जीवं मूलक्खरेपु(सु) सु(पु)ट्ठेसु ।
मुट्ठीए नायव्वं, धातुं [प० ७२,पा० २] धाउख(क्ख)रेसुं च ॥ १४२ ॥

अनया गाथया योनिप्राप्तमा(प्रश्नमे?)वमुच्यते । इदानीं प्रत्येकमागस्वरयुक्तेषु जीवाक्षरा-येऽभिहता[ः] तेषु संख्याधिकेषु मूलं ज्ञेयम् । [मूला]क्षरा येऽभिहतास्तेष्वपि संख्याधिकेषु मुष्टौ जीवो ज्ञेयः । धात्वक्षरा येऽभिहतास्तेष्वप्यधिकसंख्येषु पु(मु)ष्टौ धातु ज्ञेयम् ॥ १४२ ॥

जीवक्खरेसु मूलं, उत्तरसरसंजुएसु मुट्ठीए ।
अध[र]सहिए[सु] धाउं, जीवं च सभावदीहेसु ॥ १४३ ॥

शुद्धाः स्वरसहिता[ः] । के ते उत्तरस्वराः ? 'अ इ उ ए' एते चत्वारः । त एव जीवाक्षरा(रैः) युक्ता मुष्टौ मूलं कुर्वन्ति । एते स्वरा जीवाक्षरा अधरस्वरसंयुक्ता मुष्टौ धातुं कुर्वन्ति । कोसौर(कौ तौ अ)धरस्वरो(रौ) ? । 'आ अः' इत्येतौ द्वौ । नान्यौ गृह्य(ह्ये)ते । त एव जीवाक्षराः स्वभाव-दीर्घस्वरैर्युक्ता मुष्टौ जीवं कुर्वन्ति । के ते स्वभावदीर्घाः स्वराः ? 'ई ए (ऐ) औ' इत्येते स्वराः ॥ १४३ ॥ [प० ७३,पा० १]

अहरस्सरसंजुत्ता, मूलं धाउस्व(क्ख)रा उ मुट्ठीए ।
उत्तरसरसंजुत्ते, धाउं धातुख(क्ख)रेसुं च ॥ १४४ ॥

धातु(त्व)क्षरा अधरस्वरसंयुक्ता मुष्टौ मूलं कुर्वन्ति । अधरस्वराः 'आ ई [ऐ] औ' इत्येते चत्वारः । धात्वक्षरा उत्तरस्वरैर्युक्ता मुष्टौ धातुं कुर्वन्ति । के ते उत्तराः ? 'अ इ ए ओ' एते उत्तराः ।

"अधरस्सरसंजुत्ता, मूलं धाउक्खरा उ मुट्ठीए । सेसा उ अधर धाउं, धाउं धातुक्खरे धाउं" ॥

पाठान्तरं वा । मात्रा उक्ता एव 'अ इ ए उ' ॥ १४४ ॥

इदानीं मूलाक्षरेषु मात्रिमु(रु)च्यते । [प० ७३,पा० २]

अहरस(स्स)रसंयु(जु)त्ते, धाउं मूलक्खरेसु मुट्ठीए ।
उत्तरसहिए मूलं, जीवं सहावदीहेसु ॥ १४५ ॥

अधरस्वरे । के(कौ)तौ ? 'आ अः' इत्येतौ द्वौ·············धातु ज्ञेया भवति । उत्तरा 'अ इ ए ओ' धातुमूलाक्षरसहे(हि)तेषु मूलं ज्ञेयम् । मूलाक्षरा मुष्टौ जीवं कुर्वन्ति । के ? स्वभाव-दीर्घाः 'ई ऐ औ' इत्येते त्रयः ॥ १४५ ॥

हिट्ठंमि म(अ)धोमत्ते,[प० ७४,पा० १] धाउं मूलक्खरा उ सुट्ठी(मुट्ठी)ए ।
सेसासु(उ) सव्वमनी(त्ता), करन्ति(न्ति) मूलक्खरे जीवं ॥ १४६ ॥

मूलाक्षरा अधोमात्राभियुक्ताः । का अधोमात्राः ? स्वभावदीर्घस्वरयुक्ताः मुष्टौ जीवं कुर्वन्ति दाहकत्वात् । शेषाः सर्वमात्राः । काश्च ताः सर्वमात्रा उक्ता एव 'ऐ औ(?)' एतास्तिस्र-तान्ये(स्ता ए)व गृह्यते(न्ते) । "सेसवियप्पा जहा पुव्वं"ति वचनकमेतत् । धातु-[प० ७४, पा० २] जीव-मूलानामन्यतमेऽस्मिन् दृष्टे द्वाभ्यां तिसृणां वा द्रव्याणां नामाद्यक्षराण्य(ण्य)सत्ते(ख्ये)या-

भिघातमुद्रया(?) द्रव्यरूपसंज्ञाज्ञानं ज्ञात्वा शेषे प्रपंचधातु-धान्यान्यविकल्पादिकः जीवोत(वस्तु)-द्वययचो वा द्विपदान्यतमस्य मूलं वृक्षगुच्छगुल्मलतादिकं एवं सप्रपंचं विज्ञाय मुष्टौ तथाऽऽदेशः कार्य इति ॥ १४६ ॥

॥ मुष्टिविभागप्रकरणं समाप्तम् ॥

दो दीह वट्टदीहा, वट्टो तंसो य वट्टदीहा वि ।

[अत्र आदर्शे ॥ 'वट्टो दीहो वि तंसो य' एतद्यो द्वितीयपदस्यो भ्रष्टपाठो दृश्यते ।]

चतुरस्सो वि य वट्टो,[प० ७५,पा० १]होइ तह यायणादि(ता वि?)ण्णि॥१४७॥

अकार इकारश्च द्वौ वृत्त(?)दीर्घौ । आकारश्च ईकारश्च द्वौ [वृत्त?]दीर्घौ। उकारो वृत्तः । औ(ऊ?)कारस्त्रसः (त्र्यस्रः) । एकारश्च ओकारश्च पुनर्द्वौ वृत्तदीर्घौ । ऐकार औकारश्च दीर्घौ। अंकार अः सविसर्गः दीर्घचतुरस्रौ(स्रौ) । मतांतरेण धतुरावेवा (चतुरस्रावेव) । एतेषां मध्ये ॥ यस्य बाहुल्यं तेन तज्ज्ञानीयम् । पूर्वनिर्दिष्टा दीर्घा विज्ञेयं(याः) ॥ १४७ ॥

दीह(हा) वट्टा तंसा, चतुरंसा आय(य?)दा य संठाणे ।

क-खमादिणो य वग्गा, मीसामीसेसु [प० ७५,पा० २] नायव्वा ॥ १४८ ॥

क च ट त प य शाः सप्त दीर्घाः । ख छ ठ थ फ र षाः सप्त वृत्ताः । ग ज ड द ब ल साः सप्त त्यमा(त्र्यस्राः) । घ झ ढ [ध] भ व हाः सप्त चतुरस्राः । ङ ञ ण न माः पंच दीर्घचतुरस्राः । ॥ प्रश्नाक्षराणां मध्ये यस्याक्षरबाहुल्यं भवति तेन तद्[व]स्तु निर्देशः(श्यम्) ।·वृत्तदीर्घाक्षरस्तु यदि बाहुल्येन दृश्यते तदा वृत्तदीर्घवस्तु निर्देश्यः(श्यम्) । एवमन्येऽपि मिश्रा ज्ञेयाः ॥ १४८ ॥

पढम-तइया य छि[प० ७६, पा० १]द्दा, सीया य घणोसिणा अ पि(बि) चउत्था।

पंचमओ पुण वग्गो, होतिदोसु (उण्होछिद्दो?) या(य वा?) मीसो ॥१४९॥

प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गश्च, एतौ द्वौ छिद्रौ क-गादिकौ सी(शी)तौ च । द्वितीय-चतुर्थौ ॥ ख-घादिकौ घनौ उष्णौ च । पञ्चमो वर्ग उष्णो घनछिद्रः । प्रश्ने एतेषां येन बाहुल्यं तेन निर्देश[ः]कार्यः ॥ १४९ ॥

दो सेया धूमलओ, रत्तो चित्तो य किण्हवण्णो य ।

ये उ(ए ओ) य पुणो सेओ, दो नीला पीयला [प० ७६,पा० २] चरिमा॥१५०॥

अकार इकारश्च द्वौ स्वरौ श्वेतौ । आकारो धूम्रः । ईकारो लोहितः । उकारश्चित्रलः । ॥ ऊकारः कृष्णः । एकार ओकारश्च द्वौ श्वेतौ । ऐकारो नीलः । औकारो(रः)पीत(?नी)लः । एवं अं अः पीतौ । प्रश्ने एतेषां मध्ये यदा(द)क्षरबाहुल्यं भवति तेन वर्णनिर्देश[ः] कार्यः ॥ १५० ॥

सेदा किन्हा रत्ता, नीला तध पीयला य वण्णेण ।

कखमादीओ वग्गा, मीसा मीसेसु णायव्वा ॥ १५१ ॥

कादिवर्गः श्वेतः । खादिवर्गः कृष्णः । गादिवर्गो रक्तः । घादिवर्गो नीलः । ङ ञ ॥ ण न माः पीतलाः । एतेषां यस्याक्षर बाहु[प० ७७,पा० १]ल्यं प्रश्ने [तस्य वर्ण]निर्देशः कार्यः॥१५१॥

सुरभी मंदो सुरभि(भी), मंदो सुगं(दुग्गं)धिया तहा दोण्णि ।
सुरभी मंदो सुरभी, [मंदो] दुग्गंधियो सुरभी ॥ १५२ ॥

अकारः सुरभिः । आकार ईषत्सुरभिः । इकारः सुरभिः । ईकार ईषत्सुरभिः । उऊ द्वौ दुर्गंधी । एकारः सुरभिः । ऐकारोऽल्पसुरभिः । ओकारः सुरभिः । औकारोऽल्पसुरभिः । अं दुर्गंधिः । [अः सुरभिः] । प्रश्नाक्षराणां मध्ये सुगंधिस्वरबाहुल्यं भवति तदा सुगंधफल-कुसुमादिकं ज्ञेयम् । दुर्गंधारघे(धीष्वे)वमेव ॥ १५२ ॥

सुरभी क-गादिवग्गो, गगा(ग-जा)दिवग्गो य तह य नायव्वो ।
सेसा [प० ७७, पा० २] तिण्णि वि वग्गा, दुग्गंधिवं(वं)जणा होंति ॥ १५३ ॥

क-गादि[ग-जादि?]वर्गौ द्वौ सुरभी । शेषवर्गत्रयं ख-घादि दुर्गंधि । प्रश्ने एतेषां बाहुल्ये पूर्व[व]त् सुगंधादयो ज्ञेयाः ॥ १५३ ॥

एतस्मिन्नेवार्थे संवादकारिणो(ण्यः) अन्यग्रन्थस्य गाथा लिख्यन्ते । तद्यथा—

दो वत्ता(ट्टा) दो दीहा, [दो तंसा दो य होंति चउ]रंसा । दोण्णि य होंति तिकोणा, दो वह सरम्मि नायव्वा ॥
'अ इ' वट्टा, 'आ ई' दीहा, 'उ ए' ते(तं)सा 'ऊ ऐ' चउरंसा ।
'उ(ओ) औ' तिकोणा । 'अं अः' वुत्ति(वट्टा) नायव्वा ॥ २ ॥ [प० ७८, पा० १]
वट्टे जाण सुवण्णं, दीहेसु रूपयं वियाणाहि । तंसेण होइ सुव्वं(तंबं) चउरसे कंसयं जाण ॥ ३ ॥
तिकोणा(कोणे)हि य पित्तला(ल), लोहं, तउयं सीसयं च विसेहि । [आदर्शे 'वितेहि नायव्वं' इति पाठः ।]
पट्टे(वट्टे)सु होइ दु(दु)पयं दीहेसु चउप्पयं च णायव्वं ॥
तंसेसु होइ दुपयं, चहु(उ)प्पयं होइ चउरंसे ॥
तिको(को)णेहि य धंमं, मसं पाउडियं च बंकेहि ।
वट्टेसु होइ गुम्मा, दीहेसु लया मुणेयव्वा ॥
तंसेसु होइ छली, चउरंसे रुक(क्ख)ं [प० ७८, पा० २] भणियं । [उत्तरार्द्धं ?]
तिकोणेहि य पुप्फफलं, कसंपट्टं (पत्तं कट्टं) च होइ बंकेहि ॥ [पूर्वार्द्धः ?]
जं जं मझमइ सरो, वग्गं पण्हे तह अक्खरणिहाणं । तं तं पावइ णामं, केवलविमलाए जोण्हाए ॥
अमत्तेसु णिहत्थं, मत्तासहिएसु ऊस(अ)रे जाण । बिंदुसहिएसु चारे, विसग्गसहिएसु बाहे(हि)रे जाण ॥
उत्तरस[र]संजुत्ते, उत्तर तह पंजणे सगेहंमि । अहरसरसंजुत्ते, अहरत्त(स)रे जाण सयणगिहे ॥
परवग्गादिहपणे, भसयणगेहे गयं दव्वं । अमत्तेसु अ शाले, मत्तासहिएसु जाण नयरेसु ॥
बिंदु सहिएसु भाइं, [प० ७९, पा० १] विसग्गसहिएसु चउग्गामासो त्ति(?) ॥
दो अंधा दो कुम्मा, दो खोडा दो बहिरा । दो कुज्जा दो कियत्तण् दो काणा मुणेयव्वा ॥
चोरपण्हाए भरिया, भरिजाण तह चेव अत्थभरियावि(?) ।
भरमाणा जे बद्ध, भरिया णायव्वा चोरपण्हाए(?) ॥ अन्यग्रन्थस्य पाठान्तरम् ॥

पढमो णवमो य सरो, क-गादिवग्गो य सीय ल[हु]ओ [य] ।
कख(क्ख)ड लुक्खा य घखा(ख-घा?), विदियदसम वा[रस]सरो या ॥ १५४ ॥

प्रथमस्वरः अकारः । ण(न)वम ओकारः । (क-गा)दिवर्गाः—क च ट त प य शाः, ग ज ड द ब ल सा स(ह) । सी(शी)ता लघवश्च । ख छ ठ थ फ र षाः, घ झ ढ ध भ व हाश्च । द्वितीयस्वर आकारः । दशम औकारः । द्वादशो अकारः सविसर्गः । एते कर्कसा(शा) रूक्षाश्च । एषा-मुक्तानां प्रश्ने यद्वर्ण[प० ७९, पा० २]बाहुल्यं तदीयं सी(शी)तादिकं वाच्यम् ॥ १५४ ॥

तइओ [य] सत्तस(म)सरो, कमा(गा)दिवग्गो य मि(नि)द्धनिद्धाओ ।
लुक्खा उण्हा गरुया, खघा सरा य चउरट्ठमा दि(दो)ण्णि ॥ १५५ ॥

तृतीयः स्वर इकारः, सप्तम एकारः, ख(क)गादिवर्गौ च द्वौ । एतेषां बाहुल्ये स्निग्धद्रव्यमादेश्यम् । ख[घा]दिवर्गः, चतुर्थस्वर इकारः, अष्टम ऐकारः । एते रूक्षाः उष्णा [गुरुकाः ।] एतदक्षरस्वरबाहुल्येन तद्भवति ॥ १५५ ॥

धातुस्सरा य दोण्णि वि, पंचम(य?) अणुणासिया मउअ सीदा ।
वामिस्सा पुण सवे, मिस्सामिस्सा मुणेयव्वा ॥ १५६ ॥

धातुस्वरौ 'उ ऊ', पञ्चानुनासिकाः, मृदवः सी(शी)तलाश्च । स्नि[ग्ध]रूक्षाक्षरै[ः] नास्निग्धो न(ना?)रूक्षो(क्ष) आदेश्यः । मृदु-कर्कसा(शा)क्षरेन(ण?) मृदु-कर्कसो(श) आदेश्यः । [प० ८०, पा० १] उष्ण-सी(शी)ताक्षरै[ः] न उष्णो न सी(शी)त आदेश्यः । यथोक्ताक्षरबाहुल्येनैतद् भवति ॥ १५६ ॥

तित्तो कडुय कसाओ, अंघो(बो) महुरो य आणुपुव्वीए ।
को(का)दीणं वग्गाणं, सरपरिमाणं(णो) मुणेयव्वो ॥ १५७ ॥

कादिवर्गो तिक्तः । गादिवर्गो(र्गः) कटुकः । खादिवर्गः कषायः । घादिरम्लः । ङादिवर्गो मधुरः । अनयोरानुपूर्व्या यथोक्तवर्गाऽक्षरबाहुल्ये स(स्वर)परिणामो(माणो) वाच्यः । एवं वर्गाणां स्वराणां संस्थानं च ॥ १५७ ॥

॥ वर्ण-रस-गंध-स्पर्शप्रकरणं समाप्तम् ॥

बितिय चउत्थो य सरो, पढमो अणुणासिओ चपज(क ख ग)घा य ।
एते व(अ)ग्गेइए, अकगा........पुव्वदा तिण्णि ॥ १५८ ॥

'च(क) ख ज(ग) घ ड(ङ)' इत्येषां पंचानां अन्यतमबाहुल्ये अ(आ)कारेण इ(ई)कारेण वा युक्ते एते[प० ८०, पा० २]षाममतो वाऽनन्तरमवस्थिते आकारेण इ(ई)कारेण वा अग्नेयां(य्यां) दिशितद् वस्तु विज्ञेयम् । अकगाक्षरबाहुल्ये अकारेण इकारे[ण वा युक्ते]प्रश्ने पूर्वस्यां दिसि(शि) तद् वस्तु विज्ञेयम् १५८ ॥

ट छ ड(च छ ज)झ तइओ य सरो, बितिओ अणुणासिओ य जम्माए ।
अट्ठमसरो प(य) ट ठ ड ढ, हवंति णं(ण)कारो य णिरईए ॥ १५९ ॥

ट छ ड(च छ,ज) झाश्चत्वारोऽक्षराः, तृतीयस्वरः इकारः, द्वितीयानुनासिकश्च ञं(ञ)कारः । एतैः पूर्वोक्तन्यायेन याम्यायां दिशि तद् वस्तु विज्ञेयम् । अष्टमस्वर ऐकारः, त(ट) ठ ड ढा श्चत्वारोऽक्षराः, [प० ८१, पा० १]णकारस्य(श्च) । एभिनैरु(र्नैर्ऋ)त्यां दिसि(शि) द्रव्यं ज्ञे(ज्ञे)यं पूर्वोक्तन्यायेनेति ॥ १५९ ॥

अधरेण सत्तमसरो, चउत्थ अणुणासिओ अ प व(त थ द)धा य ।
दसमसरो सप(म)कारो, अधरुत्तरतो फ भ मा(प फ ब भा) य ॥ १६० ॥

प य व धा य(त थ द ध न)बहुले प्रश्ने एतेषामेवान्यतमस्यामतो ओ(ए)कारेण युक्ते एषामेवान्यतमस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन एकारेण पश्चिमायां दिसि(शि) द्रव्यं ज्ञेयम् । प फ ल(प फ ब भ म)बहुले प्रश्ने एतेषामेवान्यतमस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थिते[न] ओकारेण वायव्यां ज्ञेया(यम्) ॥ १६० ॥

धातुस्स[प० ८१,पा० २]रा य स व ह(हा),*णायवा तह य उत्तरद(दि)साए।
चरिमो णवम्मे(मो)य सरो, ईसाणीए स र पा(य र ला?)य ॥ १६१ ॥

धातुस्वरौ द्वौ उ ऊ, स व हा श्च त्रयोऽक्षराः, एभिः पूर्वोक्तन्यायेन उत्तरस्यां दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् । चरिमौ द्वौ अं अः । नवमस्वर ओकारः । च र पा (य र ला ?)श्च त्रयोऽक्षराः । एभिः पूर्वोक्तन्यायेन ऐशान्यां दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् । एवं नष्टस्य द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६१ ॥

॥ द्विपदादे(दि)द्रव्यस्य दिसि(शि)[प० ८२,पा० १]प्रकरणं समाप्तम् ॥

उत्तरसरेसु गामे, जांणे अहरेसुं वाहिरओ [य] ।
उत्तरसरसंजुत्ते, गेहे अहरक्खरेसुं च ॥ १६२ ॥

उत्तराक्षरेषूत्तरस्वरयुक्तेषु यत्किंचित् पृ(प्र)ष्टा प्र(पृ)च्छति ग्रामे तदिति ज्ञेयम् । एषां बाहुल्ये । उत्तराक्षराश्च पूर्वोक्ता एव । अधरस्वरसंयुक्तेषूत्तराक्षरेषु दृष्टेषु यत्किंचित् पृच्छति तद्ब(द्व)हाह्यमिति वक्तव्यम् । एतेषां बाहुल्येन । उत्तरस्वरयुक्तेष्वधराक्ष[प० ८२,पा० २]रेषु यत्किंचित् पृच्छति कश्चि[त्त]द्गृहे ज्ञेयं पूर्वोक्तन्ना(न्या)येन । उत्तरस्वराश्च पूर्वोक्ताः ॥ १६२ ॥

उत्तरसरसंजुत्ते, अहरे तं चेव होइ सयणघरे ।
परवग्गाहए वग्गो, असयणवग्गे हवइ दवं ॥ १६३ ॥

उत्तरस्वरसंयुक्ते अधराक्षरे जानीहि स्वजनगृहे द्रव्यम् । परवर्गाहते वर्गे द्रव्यं परगृहे भवतीत्यादेश्यम् । आलिंगिताभिधूमितदग्धाश्चैते त्रयोऽभिघ्नन्ति । यथैते वर्गा [प० ८३,पा० १] अभिघ्नन्ति तथा पूर्वोक्तस्वानो(न्नो)क्तमिति ॥ १६३ ॥

जाणे सकायं(काय)गरुए, अप(प्प)णगेहंमि ठवियय(ठाविय) दवं ।
परवग्गाभिहएणं, सयणग(गि)हे हों(हो)ति तं दवं ॥ १६४ ॥

तत्र स्वकायगुरुवर्गो[प० ८३,पा० २]ऽत्र यो भवति । क्क ग्ग च्च च्छ ज्ज ट्ट ड्ड त्थ इत्यादि । एतद्बहुले प्रश्ने स्वगृहे द्रव्यम् । परवर्गगुरुभिन(र)भिहतैः स्वजनगृहे द्रव्यम् ॥१६४॥

पढमे चरमे [य] सरे, दिट्ठे वत्थू य हों(हो)ति पुवेणं ।
बितियसरे य कवग्गे, अग्गेईए हवइ वत्थू ॥ १६५ ॥

स्वगृहे परगृहेऽरण्ये वा प्रश्नम् । गृहा(?) प्रथमस्वरो अकारः, अ[ः]कारो द्वादशमश्च[स]-विसर्गः । आभ्यां केवलाभ्यां प्रश्ने यत्किंचित् पृच्छति तद् गृहाभ्यंतरे पूर्वेण ज्ञेयम् । द्वितीयस्वरे आकारे कवर्गाक्षरस्योपरिगतेऽग्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किंचित् पृच्छति कश्चिचद् गृहस्या-भ्यन्तरे पूर्व[प० ८४,पा० १]दक्षिणदिग्भागेन द्रव्यम् ॥ १६५ ॥

तइए णवमे य सरे, तइए वग्गे हवइ जम्माए ।
ईकारेकारंमि य, चउत्थवग्गे य निरईए ॥ १६६ ॥

तृतीयवर्गेश्चकार(रः), तस्योपरिगतेन तृतीयस्वरेण इकारेण णवमस[रेण] ओकारेण वा चकारस्य वाऽग्रतोऽनंतरमवस्थितेन द्वयोरन्यतरेण दृष्टेन यत्किंचित् पृच्छति तद्गृहस्याभ्यन्तरे दक्षिणस्यां दिसि(शि) ज्ञेयम् । चतुर्थवर्गेटकारस्योपरिगते[न] ईकारेण ए(ऐ)कारेण वा टकारस्याग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन स्वरद्वयस्याभ्यन्तरेण दृष्टेन यत्किंचित् पृच्छति तद्गृहस्याभ्यन्तरे नैरइस्या(नैर्ऋत्यां) दिसि(शि)[प० ८४,पा० २] ज्ञेयम् ॥ १६६ ॥

एकार सत्तस(म)सरे, पंचमवग्गे य वारुणीए उ ।
छट्ठे दसमसरे [वा], वायव्वाए उ णायव्वं ॥ १६७ ॥

एकादश स्वरः अं, सप्तम एकारः, ताभ्यां तकारयुक्तस्याग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन उभयतः स्थिताभ्यां वा वारुण्यां द्रव्यं ज्ञेयम् । तथा षष्ठे वर्गे पकारे दशमस्वरेण युक्तेऽग्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते वायव्यां [प० ८५,पा० १] दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६७ ॥

पंचमरसे(सरे) य वग्गे, सत्तमए हवति सत्तमदिसाए ।
अट्ठमवग्गे छट्ठ[ट्ठे], सरे य ईसाणिए जाण ॥ १६८ ॥

सप्तमवर्गस्या(स्य) यकारस्याधोगते उकारे यकारस्योपरिगते वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किंचित् पृच्छति तद् गृहस्याभ्यन्तरे सौम्यां(सौम्यायां) दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् । अष्टमवर्ग[स्य]सकारस्याधो गतो(ते) षष्ठस्वर ऊकारः(रे)[प०८५,पा० २] सकारस्यानन्तरमवस्थिते पृच्छकस्य तद्गृहाभ्यन्तरे ऐशान्यां दिसि(शि) द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६८ ॥

अट्ठसरा आइल्ला, अट्ठ य वग्गा य आणुपुव्वीए ।
इंदाणीण दिसाणं, कमसो वग्गेसु पविभत्ता ॥ १६९ ॥

उक्तार्थे(र्थै)व गाथाऽनन्तरप्रपञ्चेन ॥ १६९ ॥

सव्वे सट्ठाणाओ, सप(प्प)डिहता हवंति चउत्थाओ ।
उत्तर अह(हो) सवण्णा, हसंति पुव्वावरं वग्गं ॥ १७० ॥

प्रश्नायां पूर्व(र्व)दिगृ(ग)क्षरसन्निश्रैः पश्चिमदिगक्षरैस्तुल्यैर्द्वयोरपि दिशोन्म(र्म)ध्ये द्रव्यमादेश्यम् । यदि पूर्वदिगा(ग)क्ष[प० ८६,पा० १]राणां बाहुल्यं तदा पूर्वस्या(स्यां) दिति(शि) । पश्चिमदिगा(ग)क्षराणां बाहुल्यं तदा पश्चिमादिक्समीपे द्रव्यमादेश्यम् । दक्षिणदिगा(ग)क्षरैरुत्तरदिगा(ग)क्षरसन्निश्रैस्तुल्येवृ(ल्यैर्द्व)योरपि दिशोरनयोम(र्म)ध्ये द्रव्यं ज्ञेयम् । दक्षिणदिगक्षराणां बाहुल्ये दक्षिणदिक्समीपे द्रव्यमवतिष्ठति । पूर्वदिगक्षरैराग्नेयादिगक्षरैः सन्निश्रैम(र्म)ध्ये द्वयोरपि दिग्विद(दि)शोरन्तराले द्रव्यं तिष्ठतीति वक्तव्यम् । पूर्वदिगक्षराणां बाहुल्ये पूर्वस्यां दिसि(शि) समी[प० ८६,पा० २]पे द्रव्यं तिष्ठतीति आदेश्यम् । आग्नेयाक्षरबाहुल्ये आग्नेयायां दिशि समीपे द्रव्यं तिष्ठतीति विज्ञेयम् । दक्षिणदिगा(ग)क्षैराग्नेयादिगा(ग)क्षरमिश्रैस्तुल्यैर्दक्षिणस्यां

दिसि(शि) द्रव्यम् । आग्नेयायां च मध्ये द्रव्यमादेश्यम् । यदा द्वयोरनयोर्दि(र्दि)ग्विदिशोय(र्य)-दक्षराधिक्ये बलं तदा तस्य(स्याः) समीपे द्रव्यमादेश्यम् । दक्षिणदिगक्षरैर्नैऋ(र्नैऋ)त्यक्षरमिश्रै-स्तुल्ययोर्द्व(र्द्व)योरनयोर्दि(र्दि)ग्विदिशोरन्तराले द्रव्यमवतिष्ठत इत्या[प० ८७,पा० १]देश्यम् । द्वयोरनयोर्दिग्विदिशोर्यस्य यदक्षराधिक्या[द्] बलमधिका(कं) तस्याः समीपे द्रव्यं ज्ञेयम् । पश्चिमदिगक्षरैर्नैऋ(र्नैऋ)त्यक्षरमिश्रैस्तुल्यैर्द्व(र्द्व)योरनयोर्दि(र्दि)ग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यं वक्तव्यम् । यदा द्वयोरनयोर्दिग्विदिशोर्यस्या [अ]क्षराधिक्याद् बलमधिकं तदा तस्य[स्याः] समीपे द्रव्यं ज्ञेयम् । पश्चिमदिगक्षरैर्मि(र्मि)श्रैस्तुल्ये(ल्यै)रनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमादेश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्दि-(र्दि)ग्विदिसो(शो)र्यस्या दिशो विदिशो वाऽक्ष[प० ८७,पा० २]राधिक्याद् बलमधिकं तदा तस्याः समीपे द्रव्यमादेश्यम् । उत्तरदिगक्षरैर्वा(र्वा)यव्यादिगक्षरमिश्रैस्तुल्यैरनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये अव-तिष्ठते द्रव्यमित्यादेश्यम् । यदा द्वयोरनयोर्दि(र्दि)ग्विदिसो(शो) वाक्षराधिक्याद् [प० ८८,पा० १] बलमधिकं तदा तस्याः समीपे द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । उत्तरदिगक्षरैरीसा(रीशा)न्याक्षरमिश्रैः समैरनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमवतिष्ठतीत्यादेश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्दि(र्दि)ग्विदिसो(शो)-[र्यस्य दिशो विदिशो]वाऽक्षराधिक्याद् बल[प० ८८,पा० २]मधिकं तदा तस्य(स्याः) समीपे द्रव्यमादेश्यम् । पूर्वदिगक्षरैरैसा(शा)न्याक्षरमिश्रैस्तुल्यैरनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमवतिष्ठते इत्या-देश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्दि(र्दि)ग्विदिशोर्यस्या दिशो विदिशो वाऽक्षराधिक्याद् बलमधिकं तदा तस्या निकटे द्रव्यं वक्तव्यम् । [प० ८९,पा० १] पूर्वदिगक्षरैर्द(र्द)क्षिणाक्षरमिश्रैस्तुल्यैरनयो-र्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमादेश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्दिशोर्यस्या अक्षराधिक्याद् बलमधिकं तदा तस्या .निकटे द्रव्यमादेश्यम् । समाक्षराणां मध्ये चक्रदिग्विनिर्द्विषा(विदिग)क्षरमाहुल्येनैवो-दि(दी)त्यादेश्य(शः) तैन्यः ॥ १७० ॥ [प० ८९,पा० २]

बितिय चउत्थे वग्गे, सभिं(ब्भिं)तर-बाहिरं भवे गेहं ।
अधरसरेपु(सु) य प(व)हिया, अधरस(स्स)रसंतु(जु)तेसुं च ॥ १७१ ॥

द्वितीयवर्गः — 'ख छ ठ थ फ र षाः', बाह्या [एते] । एतद्बहुले प्रश्ने बहिगृ(र्गृ)हा[द्] द्रव्यं ज्ञेयम् । चतुर्थवर्गी(र्गः) — 'घ झ ढ ध भ व हा' इत्येते अभ्यन्तराः । एतद्बहुले प्रश्ने गृहाभ्यन्तरे द्रव्यं ज्ञेयमिति । द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरबहुले गृहाद् बहिगृ(र्गृ)हाभ्यन्तरे द्रव्यं ज्ञेयम् । अधर-स्वरसंयुक्तेष्वि(ष्व)प्ययमेवार्थः ॥ १७१ ॥

'सगिहम्मि य जं दव्वं, तं पच्च[प० ९०,पा० १]क्खं भवे परोक्खं वा ।
दिट्ठ(ट्ठं)मि परोख(क्खं)मि ओ(उ), उड्ढ(ड्ढ)महो तिरियभागे वा ॥१७२ ॥

स्वगृहे यं (यद्)द्रव्यं स्थापितं नष्टं च तच्च प्रत्यक्षं च परोक्षं चेति अप्रत्यक्षमित्यर्थः । स्वकायगुर्वक्षरबहुले प्रश्ने स्वयं त्वया स्थापितमिति प्रष्टा वाच्यम् । स्ववर्गसंयोगाक्षरैर्दृष्टौ(ष्टैः) पताघाता(पित्रा भ्रात्रा)पितृव्येनेत्येवमादिभिः स्थापितं द्रव्यमिति वाच्यम् । अर्द्धकान्त(न्ता)क्षरै-र्दृ(र्दृ)ष्टैः स्त्रिया स्थापितमितिवाच्यम् । एवा(व)मादिभिर्यत्र स्थापितं द्रव्यं तस्यो[प० ९०,पा० २]पलब्धिः क्रियते । ऊर्द्धभागेऽधोना(भा)गे तिर्यग्भागे वा द्रव्यस्यावस्थितस्य उपरितनया गाथया निर्नय(र्णयं) वक्षय(क्ष्य)ति ॥ १७२ ॥

मूलस(स्स)रेसु उड्ढं(ड्ढं), अहो [य] धातुस्सरेय(सु) सेवेसु ।
सेसेसु तिरि[य]भागे, गेहे दत्थं(द्वं) तु[ह?] परोक्खं ॥ १७३ ॥

मूलस्वराः 'ई ऐ औ' एतेषु दृष्टेषु प्रश्ने ऊर्द्ध्वभागे द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । धाम्यधातुस्वरौ द्वौ 'उ ऊ' आभ्यां दृष्टाभ्यां अधोभागे-द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । शेषेषु–'अ आ इ ए ओ' एषां पञ्चानां अन्यतमाधिक्ये तिर्यग्भागे द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । स्वगृहे संचयं द्रव्यं नष्टं तद्वेभिः स्वरै[प० ११, पा० १]ज्ञा(र्ज्ञा)तव्यमिति ॥ १७३ ॥

जल देवय अग्गिखं(घ)रं, दिट्ठे वत्थुंमि ति[न्नि?] नि(ति)ट्ठाणं ।
लक्खेज्ज जीव धाउं, मूलाण य तिनि(न्नि) वाणइ(ठाणा)इं ॥ १७४ ॥

क च ट त प य सा(शा)[नाम]न्यतमाधिके प्रश्ने जलगृहे द्रव्यमादेश्यम् । ख छ ठ थ फ र पा णां चतुर्थवर्गसंज्ञकानां चान्यतमाधिके प्रश्ने गोशालायां द्रव्यमिति ज्ञेयम् । ग ज ड द ब ल सा नामन्यतमाधिके प्रश्ने देवगृहे द्रव्यमादेश्यम् । ङ ञ ण न माधिके प्रश्ने अग्निगृहे द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । मिश्रेषु यत्संबंधिनोऽक्षरा बहव[ः] तस्मिन् द्रव्यमिति ज्ञेयम् । जीवयोनौ लब्धायां जीवो नष्टमि(ष्ट इ)त्यादेश्यः । मूलयोनौ लब्धे मूलम्, धातुयोनौ लब्धे धा[प० ११, पा० २]तुद्रव्यम(व्यं न)ष्टमित्यादेश्यम् । तत्र त्रिस्रे(ष्वे)व स्थानेष्विति नष्टिकास्वगृहेकाण्डम् ॥ १७४ ॥

छिद्दे तत्थंरिपं(रत्थंतरियं?), परवकु(त्थु)मणंतरं घणे दिट्ठे ।
जो च्चिय वत्थु निवेसे, गमओ सो चेव रत्थासु ॥ १७५ ॥

क-गादीनां प्रथम-तृतीयवर्गीयानां छिद्रसंज्ञकानां अन्यतमाक्षराधिके प्रश्ने रथ्यान्तरितं द्रव्यमादेश्यम् । ख-घादीनां वर्गाक्षराणां घनसंज्ञ[प० १२, पा० १]कानां अन्यतमाधिकानां प्रश्ने स्वगृहस्यानन्तरं यत्परगृहं [तस्मिन्]द्रव्यमित्यादेश्यम् । एवं [व]स्तुनिवेशविधिरुक्तः । पूर्वाऽऽग्नेयी दक्षिणे(णा) नै(र्ऋ)त्यपरा वायव्योत्तरेशानी चेति [दिक्] । यैरक्षरैगृ(र्गृ)हाभ्यन्तरे एतासु दिक्षु द्रव्यमभिहितं तैरेवाक्षरैस्तेनैव प्रकारेण रथ्यास्वपि द्रष्टव्यम् ॥ १७५ ॥

हस्सेसु समं ठाणं, सहावदीहे[प० १२, पा० २]सु उण्णयं जाणे ।
पंचम छट्ठे य सरे, दोसु वि णिण(णि)ण्णं मुणेयव्वं ॥ १७६ ॥

ह्रस्वानां 'अ इ ए ओ' एतेषामन्यतमाधिके प्रश्ने समस्थाने द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । स्वभावदीर्घाणां '[ऊ ऐ]औ' एषामन्यतमाधिके प्रश्ने उन्नते भूभागे द्रव्यमवतिष्ठत इति वाच्यम् । पञ्चमस्वर[उकारः],षष्ठस्वर ऊकारः, अनयोर्दृष्टयोनि(र्नि)म्नोन्नतभूभागे द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् ॥ १७६ ॥

ततियस्सरो वि रत्थं, कवे(थे)ति जइ वंज[प० १३, पा० १]णे यं संजुत्तो ।
उत्तर-वंजणसहिते, बितिए उच्चं हवइ ठाणं ॥ १७७ ॥

तृतीयस्वर इकारः, स उक्तान्यतमाक्षरोपरिगतो रथ्यायां द्रव्यमाचष्टे । द्वितीयस्वर आकारः, सोऽभिहितोत्तराक्षर(रा)न्यतमसंयुक्तो रथ्यायामेव द्रव्यं कथयति ॥ १७७ ॥

सविसग्गेसु चउक्कं, साणुस्सारेसु अधरखरठाणं ।
लोइय-लोउत्तरियं, घणक्खरे देउलं लक्खे ॥ १७८ ॥

सविसर्गः 'अ'कारः, स यदा प्रश्ने अन्यतमाक्षरपार्श्वस्थि[प० १३, पा० २]तो दृश्यते केवलो वा तदा चतुष्पथे द्रव्यमादेश्यम् । एकादशमोऽनुस्वारः 'अं' यदाऽन्यतमाक्षरोपरिगतो दृश्यते केवलो वा तदा तस्य चतुष्पथस्य पश्चिमदिग्भागे द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । घनाक्षराणां 'ख छ ठ थ फ र ष णां, घ झ ढ ध भ व हा नां' चान्यतमबहुले प्रश्ने लौकिकदेवकुले द्रव्यमादेश्यम् । [प० १४, पा० १] लौकिकं देवकुलं शंकरायतनादिकम् । एतेष्वेव घनाक्षरेषूत्तरस्वरसंयुक्तेषु लोकोत्तरदेवकुले द्रव्यमादेश्यम् । लौकोत्तरिकदेवकुले(ल)मित्यर्हदायतनं वक्तव्यम् ॥ १७८ ॥

सवत्थ [य] जीव-धातु-मूलाणं लक्खए तउट्ठा(ओ ठा)णा ।
एसो य गामदंडो, एसो वि य बाहिरो दंडो ॥ १७९ ॥

सर्वत्र जीव-धातु-मूलानां यदेतत्स्था[प० १४, पा० २]नं नष्टस्योक्तं तत्र जीव(वं) धातु(तुं) मूलं चेति त्रयम(मे)वावधार्यादेशः कार्य इति । यत्र यत्र स्थाने एष दंडो बहिरभ्यन्तरे च ग्रामस्योक्तः । दंडशब्देन च नष्टं ब(ध)नमुच्यते ॥ १७९ ॥

॥ नष्टिको(का)चक्रं समाप्तम् ॥

एतो(त्तो) चिंतविभागो, मुट्ठिविसेसेण अक्खरुप्पत्ती ।
गेहिरिखा(गहरिक्खा)णं सूया,सव्वेसिं उवगयविसेसो ॥ १८० ॥

अतः परं चिन्तावि[प० १५, पा० १]भागस्य मुष्टिविशेषस्य ग्रहाणां नक्षत्राणां च सूचनं लेसो(शो)द्देशेन यथावसरमुत्पत्तिप्रदर्शनं तथाक्षरोत्पादनं च मुष्टा ग्रहरि(ऋ)क्षाणां च वर्णया(नाऽशा)मुपगतविशेषमिति वक्ष(क्ष्य)माणोपन्यासार्थना(ता?) । उपगतः शब्दमात्रपर्यायः ॥१८०॥

तह सद्दणिण्णओ वि[य], सव्वे भावा य सव्वदव्वाणं ।
णंदावत्ते जोए, सत्त वियप्पा [प० १५, पा० २] हवंति इमे ॥ १८१ ॥

पटहास्फोटित-कुड्यपतनादिशब्दो भावशब्देन निन(र्ण)यवर्णाकृतिप्रमाणादीनि भण्यन्ते । सर्वभावा अक्षरप्रतिबद्धाः 'लाभालाभ-सुखदुःख-जीवितमरण' इत्याद्यक्षरप्रतिबद्धाः । सकलद्रव्याणां नन्दिकावर्तोक्ये(क्ये) करणे सप्त भेदा भवन्तीति वक्ष्यमाणोपन्यासः ॥ १८१ ॥

तथा चैतत्–

पढमो चिंताभेदो, तस्स य भेदा हवंति अट्ठ इमे ।
जीवादीणं जोणी, तिविहो पढमो हवति भेदो ॥ १८२ ॥

तेषां सप्तानां भेदानां [प० ९६,पा० १] मध्ये प्रथमचि(श्चि)न्ताभेदः । तस्य भेदा भव-न्त्यष्टौ वक्ष्यमाणाः । जीव-धातु-मूलानां योनिस्त्रिविधा या सा प्रथमचिन्ताभेदे पतति ॥ १८२ ॥

गुरु-लहुय अक्खराणं, संजोओ बितियओ हवंते(वति) भेदो ।
तितीओ पीडासहि(हि)ओ, ततो(चो) अभिघातिता तिन्नि ॥ १८३ ॥

गुरु-लघ्वक्षराणां सयोगो द्वितीयो भेदः। पीडाभेदस्तृतीयकः । क(कः) पुनरसौ ? अधा-(धो)मात्रा अप्रधाना येऽभिहताः रेफ-यकार-उकार-ऊकार-सहिताः । आलिंगितश्चतुर्थः । अभि-धूमितः पंचमः । दग्धः षष्ठो भेद [प० ९६,पा० २] इति ॥ १८३ ॥

एक्को पयडिविसेसो, सत्तमओ संकडाइ अट्ठमओ ।
एत्तो चिंताभेदा, पणयालीअक्खरुप(प्प)ण्णा ॥ १८४ ॥

एकः प्र[कृ]तिविशेषकः । कु(कः)पुनरसौ ? जीवप्रकृति-धातुप्रकृति-मूलप्रकृति[रूपः] ॥ सप्तमो भेदः । सकट-विकटभेदा(दो)ऽष्टम उक्त एव । एते चिन्ताभेदाः पञ्चचत्वारिंशदक्षरप्रति-पद्धा इति ॥ १८४ ॥

॥ चिन्ताभेदप्रकरणं समाप्तम् ॥ [प० ९७,पा० १]

दुग दुग तिग तिग य चतू, चतुक्क पण पण छ सत्त वसु णवया ।
णामक्खराण य सरा, हवं(हों)ति आ(अ)कारादिणं कमसो ॥ १८५ ॥

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
२	२	३	३	४	४	५	५	६	७	८	९

अकारो द्विसंख्यः । आकारोऽप्य(पि) द्विसंख्य एव । [प० ९७,पा० २] इकारस्त्र(स्त्रि)संख्यः । ईकारोऽपि त्र(त्रि)-सख्या(ख्य) एव । उकारच(श्चतुः)सख्या(ख्यः) । ऊकारश्चतुःसंख्या(ख्य) एव । एकार[ः] पञ्च-संख्या(ख्यः।) ऐकारोऽपि पञ्चसंख्या(ख्य) एव । ओकार[ः] षट्संख्या(ख्यः) । औकार[ः] सप्तसंख्या(ख्यः) । अंकारः स्वा(सा)नुस्वरोऽष्टसंख्यो(ख्यः) । अकारः सविसर्गो नवसंख्या(ख्यः) । अकारादय[ः] स्वरा द्वादश अक्षरैर्युक्ता [प० ९८,पा० १] यथोक्तसंख्या द्रष्टव्या इति ॥ १८५ ॥

द्वितीयप्रकारः —

चउ तिं तिं चउक्क चउत्थ, चउ सत्त वयुहण(ट्ठऽट्ठ णवय)वग्गं च ।
संखापरिमाणे तस(स्स)राणऽगाराइणं कमसो ॥ १८६ ॥
एगादीया पंच उ, कमादी(दि) अणुणासियावसाणाणं ।
कमसो णाम ए(प)माणं, पंचइ(चाण) वि आणुपुव्वीए ॥ १८७ ॥

ककार एकसख्या(ख्यः) । खकार[रो] द्विसख्या(ख्यः) । गकारस्त्र(स्त्रि)संख्या(ख्यः) । घकारचतु(श्चतुः)सख्य[ः] । ङकार[ः] पञ्चसंख्य इति । एवं क-गादि-ङकारपर्यवासानां क्रमसः(शः) [प० ९८,पा० २] सख्याऽभिहितेति ॥ १८७ ॥

जो दे(ये)व कवग्गकमो, चादीणं सेसयाण सो चेव ।
वग्गाण होइ गमओ, जाव ण केण(णा)वि संजुत्तो ॥ १८८ ॥

य एव संख्यां प्रति [क]वर्गस्य क्रम[ः], स एव चादीनां वर्गाणां क्रमो ज्ञेयः। स्वरेणाक्षरेण वा असंयुक्तानां अनभिहतानां चेति ॥ १८८ ॥

जावतिया संजुत्ता, पत्ते पत्तेसि(क्ति?) मेलिया संखा ।
आलिंगियाइ तत्तो, विसुद्धसेसा हवइ संखा ॥ १८९ ॥

स्वरेणाक्षरेण वा युक्ते(क्तो) वर्णेन वा अग्रतो वाऽनंतरमवस्थितेन यः पूर्वाक्षर[ः] स संयुक्त इत्युच्यते । स संयोगो येन छ्वः स आ[प० ९९, पा० १]लिंग्यमालिंगयति, अभिधूमयं(यि)तव्यमभिधूम[य]ति, दग्धव्यं दहतीति । आलिंगिताभिधूमितदग्धप्रकाराश्च पूर्वोक्ताः । आलिंगिताभिधूमितदग्धानां मध्ये यो(या) विद्यते संख्या वा सो(शो)धयित्वा विशुद्ध(द्धाऽ)वसि(शि)ष्टा संख्या भवति तथा देस(शः) कार्यः प्रष्टु[ः] सा भ[प० ९९, पा० २]ण्यते ॥ १८९ ॥

एक्क[क] तिय तिय दुय दुय, चतु चतु पण छक्क सत्त वस(सु)हं च ।
कमसो अक्खरमाणं, अवग्गजोए ककारस्स ॥ १९० ॥

एवं सर्ववर्गेषु ज्ञेयम् । एकः [एकः] ए(त्रि)कः [त्रिकः द्विकः द्विकः] चतुष्कः चतुष्कश्च पंचा(च) षट् सप्ताष्टौ अकारादिभिः स्वरैः सविसर्गौकारपर्यन्तैद्वा(न्तैर्द्वा)दशभिरन्वितानां ककारादीनां अक्षराणां ज्ञेया संख्या क्रमेण यावद् द्वादश इति ॥ १९० ॥

एमेव(वं) [प० १०१, पा० २] सेसाणं, खाएही(दी)णणुणासिय(या)वसाणाणं ।
णामपमाण(णं) कमसो, उत्तरवड्डी(ड्डी)ए नायवो(व्वं) ॥ १९१ ॥

एवमेव शेषाणामपि यथा ककारस्य अकारादिद्वादशस्वरयोगेन संख्या विहिता तथा खादीनामपि अनुनासिकपर्यन्तानि(नां) नामप्रमाणं क्रमसः(शः) । यवो(यो?)त्तरवृद्धा(द्ध्या) ज्ञातव्यमिति पूर्वगाथायामेव प्रसंगेनोक्तमिति ॥ १९१ ॥

द्यो (जो) चेव [प० १०२, पा० १] कवग्गकमो, होति उ सो चेव सेसवग्गाणं ।
णामपमाण(णं) गमओ, अवग्गजोएण निप्पन्नो ॥ १९२ ॥

य एव कवर्गस्य क्रमो भवति स एवावसि(शि)ष्टानां चादिवर्गाणां सवर्गपर्यन्तानां नामप्रमाणे गमयतां अवर्गयोगेन निष्पन्न इति। अकारादीनां स्वराणां हकारांतानां संयुक्तानां वा संख्या सा पूर्वगाथायाः प्रसंगेन व्याख्याता ॥ १९२ ॥ [प० १०२, पा० २]

जह उ अवग्गेण समं, कवग्गमादीण सव(च)वग्गाणं ।
एवं चिय संजोओ, परोप(प्प)रं सेसयाणं पि ॥ १९३ ॥

उक्तार्थैव गाथा। यथा अवर्गेण सह कवर्गादीनां सप्तादिनां(सप्तानां) वर्गाणां संयोगो(गः) एव[मेव] परस्परं(रं) चादीनां हकारपर्यन्तानां अक्षराणामपि संयोगो ज्ञेयः ॥ १९३ ॥

क	का	कि	की	कु	कू	के	कै	को	कौ	कं	कः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
ख	खा	खि	खी	खु	खू	खे	खै	खो	खौ	खं	ख.
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ग	गा	गि	गी	गु	गू	गे	गै	गो	गौ	गं	ग.
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
घ	घा	घि	घी	घु	घू	घे	घै	घो	घौ	घं	घः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११
ङ	ङा	ङि	ङी	ङु	ङू	ङे	ङै	ङो	ङौ	ङ	ङः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१०	११	१२
								(१००)			
च	चा	चि	ची	चु	चू	चे	चै	चो	चौ	चं	चः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
छ	छा	छि	छी	छु	छू	छे	छै	छो	छौ	छ	छः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ज	जा	जि	जी	जु	जू	जे	जै	जो	जौ	जं	जः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
झ	झा	झि	झी	झु	झू	झे	झै	झो	झौ	झं	झः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११
ञ	ञा	ञि	ञी	ञु	ञू	ञे	ञै	ञो	ञौ	ञ	ञ.
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१०	११	१२
								(१००)			
ट	टा	टि	टी	टु	टू	टे	टै	टो	टौ	टं	टः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
ठ	ठा	ठि	ठी	ठु	ठू	ठे	ठै	ठो	ठौ	ठं	ठः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ड	डा	डि	डी	डु	डू	डे	डै	डो	डौ	डं	डः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
ढ	ढा	ढि	ढी	ढु	ढू	ढे	ढै	ढो	ढौ	ढं	ढः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११
ण	णा	णि	णी	णु	णू	णे	णै	णो	णौ	णं	णः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१०	११	१२
								(१००)			
त	ता	ति	ती	तु	तू	ते	तै	तो	तौ	तं	तः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
थ	था	थि	थी	थु	थू	थे	थै	थो	थौ	थं	थः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९

द	दा	दि	दी	दु	दू	दे	दै	दो	दौ	दं	दः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
ध	धा	धि	धी	धु	धू	धे	धै	धो	धौ	धं	धः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११
न	ना	नि	नी	नु	नू	ने	नै	नो	नौ	न	नः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१०	११	१२
								(१००)			
प	पा	पि	पी	पु	पू	पे	पै	पो	पौ	पं	पः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
फ	फा	फि	फी	फु	फू	फे	फै	फो	फौ	फं	फः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ब	बा	बि	बी	बु	बू	बे	बै	बो	बौ	बं	बः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
भ	भा	भि	भी	भु	भू	भे	भै	भो	भौ	भं	भः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११
म	मा	मि	मी	मु	मू	मे	मै	मो	मौ	मं	मः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१०	११	१२
								(१००)			
य	या	यि	यी	यु	यू	ये	यै	यो	यौ	यं	यः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
र	रा	रि	री	रु	रू	रे	रै	रो	रौ	र	रः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ल	ला	लि	ली	लु	लू	ले	लै	लो	लौ	ल	लः
३	३	५	५	४	४	६	७	७	८	९	१०
व	वा	वि	वी	वु	वू	वे	वै	वो	वौ	वं	वः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११
श	शा	शि	शी	शु	शू	शे	शै	शो	शौ	श	शः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
ष	षा	षि	षी	षु	षू	षे	षै	षो	षौ	षं	षः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
स	सा	सि	सी	सु	सू	से	सै	सो	सौ	सं	सः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
ह	हा	हि	ही	हु	हू	हे	है	हो	हौ	हं	हः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१०	११

तत्र संयोगो(गे) आलिंगिताभिधूमितदग्धसंख्या कथ्यते– विशेषसंख्या कथ्यते । विशेषसंख्यमानामा(संख्यानाम) प्रमाणमादेश्यम् । –

पढमक्खरसंखाए, जाणसु णामक्खराण परिमाणं ।
आलिंगि[प॰ १०३, पा॰ १]याइ तत्तो, एक्कोचरिया हवइ हाणी ॥ १९४ ॥

प्रश्नाक्षराणां प्रथमाक्षरस्य या संख्या ह्रस(स)ति । अभिधूमिता द्वे, दग्धास्तिश्रा (स्रः) संख्या ह्रसति ॥ १९४ ॥

सेसं उ णामसंखा, णिस्सेसमणंतरस्स संखाए ।
तत्तो नामपमाणं, पढमिल(ल्ल)कमेण णेयव्वं ॥ १९५ ॥

तस्माद(द्)क्षराद(द्)भिघातशुद्धायाः(द् या) शेषा समानाक्षरसंख्या निर्दिशा(ष्टा) यदा पूर्वाक्षरो(रा)भिघात(ते)न सकल(ला?) शुद्ध्यति तदा तस्या[ः] पूर्वस्यानन्तरादभिघातशुद्धायः(द्यः) शेष[ः] ते[न?] नामसंख्या ज्ञेया। तस्मान्नामाक्षरस्य [प० १०३, पा० २] प्रमाणं क्रमेण ज्ञातव्यमित्युक्तम् ॥ १९५ ॥

पढमो(मा) तइया संपत्कराओ थोवं च संखमिच्छंति।
वितिय-चउत्था तेसिं, विपत्करा ते य बहुसंखा ॥ १९६ ॥

प्रथमाः—क च ट त प य शाः। तृतीयाः—ग ज ड द व ल साः। तेषां संपत्कुर्वन्ति लो(ला)भकरा[ः]शुभेस्व(श्व)र्यचिंतायाः प्रश्नः। कालतस्तु स्वल्पकालं भवति। तद्बहुले प्रश्नेऽस्पनामाक्षरसंख्या ज्ञेया। द्वितीयो वर्गः—ख छ ठ थ फ र षाः। चतुर्थो वर्गः—घ झ ढ ध भ व हाः। एते विपक्ष(त्क)रा अशुभकरा न लाभकरा इत्यर्थः। अल्पफलं बहुकालिकं च कुर्वन्ति। तद्बहुले प्रश्ने महती नामाक्षरसंख्या ज्ञातव्या ॥ १९६ ॥

एस सराणं गमओ, वग्गाणं सत्तमट्ठा(ट्ठमा)णं च।
विसमक्खरम(व)ग्गाणं, चरिमाणं थोविआ संखा ॥ १९७ ॥

एष स्वराणां विधिरिति यद(दु)क्तं ह्रस्वस्वराः संपत्करास्ते महर्ति(तीं) विभूतिं कुर्वन्ति। लाभकराश्च। नामसंख्याकरास्त(क्षराश्च?) स्वल्पां कुर्वन्ति। शेषस्वरा विपत्करा अलाभकराः। नामाक्षरसंख्यां महतीं कुर्वन्ति। अनुमेयार्थं पूर्वोक्तं निर्दिशति। एवं स्वरवर्ग उक्तः। कादयस्तु पंच चान्ये वर्गा उक्ताः। सप्तमवर्गस्याष्टमवर्गस्य च वर्गसंख्या इह(है)वोक्ताऽष्टवर्गक्रमे। विषमाक्षरवर्गा ये, के? क च ट त प य शाः, ग ज ड द व ल सा स्व(श्च)। चरिमास्व(श्च।)पंचवर्गेण 'ङ ञ ण न मा' स्व(श्च)। चरिमौ च 'अं अः' अनयोरप्यल्पसंख्या ज्ञेया ॥१९७॥

जे जे जहा सपक्खा, तेसिं दोण्हं पि मेलिया संखा।
अभिहयसुद्धा दुगुणा, काऊणं निदि(दि)से संखा ॥ १९८ ॥

प्रश्नादौ योऽक्षरस्तस्य ये स्वपक्षा उच्यन्ते। यैरभिघात[प० १०४, पा० २]स्याक्षरस्य तत् कृ(क्रि)यते। स चानभिघातकः। व्यवहितोऽव्यवहितस्तु न दोषः। तयोर्द्वयोर्मिलितयोर्या संख्या तथा(या?)नामनिर्देश[ः]कार्यः। इत्यार्धकारिकाया व्याख्यानम्। एतत्तु विरुद्धम्। यत आदावुक्तम्—"*पढमक्खरसंखाए आणे नामक्खराण परिमाणं। आलिंगियाउ तत्तो, एक्कंतरिया हवइ हाणी ॥*" इत्यनेन। उच्यते—अत्र उत्सर्गविहितो यो(ऽयं) विधिः। इह त्वपवादा(त्वपवादः)। उत्सर्गापवादाश्च सूत्रोपदेश [प० १०५, पा० १] इति। मार्गर्द्धनाभिहि(ह)तस्य पक्षे द्वयसंख्यायोगे संख्या,नामाक्षराणामभिहता। यदा स्वपक्षो अभिहतो भवतस्तदा सत्यभिघाते अभिघातोक्तसंख्या(ख्यां) विशोध्य शेषा(षां) द्विगुणीकृत्य तदा प्रमाणे (तत्प्रमाणो) नामनिर्देशः कार्यः ॥१९८॥

परपक्खाणं संखं, अभिहयसुद्धं परोप्परं गुणए।
सुण्णेण(णं) विहिऊणं, दुण्हं निद्दिसे संखं ॥ १९९ ॥

यदा धातु-मूल-जीव-संख्या विज्ञातव्या। कियत्परिमाणमिति। तदा स्वपक्षसंख्या नाङ्गी(ङ्गी)कृ(क्रि)यते। परपक्षसंख्यैवाङ्गी(ङ्गी)कर्तव्या। अत्राप्युक्त(क्त) एव विधिः। प्रश्नादौ योऽक्षरः,

योऽभिघातकः । तस्य यो व्यवहितोऽव्यवहितान्यः । अवव्यहितोकता(सोक्ता)भ्यामभिघातसु(शु)-द्धाभ्यां परस्परं गुणिने(ते)ति संख्यारूपमिवोच्यते । परस्परं संख्या [याः?] एकपिंडमापाद्य दस-(श)भिर्गुणय(यि)त्वा प्रष्टुद्र(द्र)व्यसंख्यानिर्देशः कार्यः ॥ १९९ ॥

बहुसंख-अप्पसंखा, वट्ट(ड्ड)इ हाइंति य अप्पसंखाओ ।
सोहे [प० १०६, पा० १] तु अप्पसंखं, दवाणं निद्द(द्दि)से संखं ॥ २०० ॥

अथ द्रव्य अल्प[बहु]संख्याया आनयनोप(पा)यः प्रकारान्तरेण कथ्यते–सकलां प्रश्नां गृह्य । बहुसंख्या द्वि-चतुर्थ-वर्गाक्षराः, अल्पसंख्या प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराः । तेषां विद्यमानाभिघातशुद्ध(द्धा)नामवसि(शि)ष्टसंख्यापिंडं स्थापयेत् । बहुसंख्यानामपि विद्यमानाभिघातशुद्धानां संख्यापिंडमवस्थापयेत् । द्वयोरनयोः संख्यापिंडयोर्या यत्र सुद्धति तां [प० १०६, पा० २] तत्र सोव(शोध)यित्वा या परिशिष्टा नां(तां) शून्येन विध्वा द्रव्यसंख्या ज्ञेया ॥ २०० ॥

जह चेव दबसंखा, भणिया तह चेव कालपरिमाणं ।
एक्कमणसो करेज्जा, पुवाइतिउ(रिओ)वएसेणं ॥ २०१ ॥

यथैव द्रव्यसंख्याऽभिहिता तथा तेनैव प्रकारेण तस्या द्रव्यसंख्याया[ः] कालपरिमाणं कुर्यात् । अनन्यमहानैमित्तिः(त्तिक)पूर्वाचार्योपदेशेनेति । तत्र कालपरिणाम(माणं) कालप्रकरणे यथा वक्ष(क्ष्य)तीति नोक्तमिहेति ।

अन्ये पठन्ति 'तहेव कालपरिमायणं' यथा द्रव्यस्य कालपरिमाणं उपचयापचयं वा प्रति । यथा पृष्टः(ष्टुः) [प० १०७, पा० १] आयु[ः]प्रमाणमपि वक्तव्यम् । तदुच्यते–देयकीं(देविकीं) प्रश्नां परिगृह्य मानसिं(नुषीं) वा सैवाकाशप्रश्नोच्यते । प्रष्टुज(र्ज)न्मकर्मनक्षत्रसंख्यामभिघातशुद्धामेकत्र संपिंड्य विसो(शो)त्तरस(श)तमध्यात्सो(च्छो)ध्यः । शेषं मध्यः । परमायुरेकांते स्थाप्य .त[ः] प्रत्येकं गर्भरि(ऋ)क्षसंख्यां मेलयित्वा । स च एकोनविंशत्तमो ग्राह्यः । प्रश्नाच्च प्रत्येकं यो(या) यत्र शुद्ध्यति तां विशोध्य पत्से(च्छे)षं तत्पूर्वलब्धपरमायुम(र्म)ध्याच्छोध्यम् । प्रष्टना(ष्टुर्ना)माक्षरां स्वकालरूपां गणयित्वा छो(शो)धयेत् । शेषः स्फुटः परमायुःपिंडक इति । [प० १०७, पा० २] गतकालपरिज्ञानार्थं उदयनक्षत्रसंख्याभिघातशुद्धां संपिंड्यैकत्र द्विगुणं कुर्यादेकान्ते अवस्थाप्य ततः जन्मकर्मगर्भरी(ऋ)क्षायक्षरसंख्यामभिघातरहितां संपिड्य(ड्या)नन्तरं द्विगुणीकृत्य संख्यां विशोध्य (?) भूयः सकलां नामाक्षरां सो(शो)धयित्वा शेषेण अतीतकाल इति । परमायुःपिंडाद्वि-शोध्य शेषमागा[प० १०८, पा० १]मिनी भवतीति । एवं नैमित्तिकपूर्वाचार्योपदेशेनानत्यमानां (? ०नायुष्यमानं) कुर्यादिति ॥ २०१ ॥ तथा लेख्याक्षरसंख्यापरिज्ञानार्थम्–

अक्खरमीसं दुग(गु)णं, वग्गेयवं सदा पयत्तेणं ।
पणपण्णभागसेसं, तंमि गुणा म(अ)क्खरं जाणे ॥ २०२ ॥

प्रश्नाक्षराणां या यस्य स्वरसंख्याऽभिहिता तां संख्यां सकलामेकीकृतां द्विगुणं कृत्वा ततो वर्गयित्वा[प० १०८, पा० २]पृच्छा(प्रश्ना)पयेत । तस्य च प्र(प्र)स्थापितस्य द्वे क्रिये भवतः । तत्रैका लेखाक्षरसंख्यापरिज्ञानक्रिया, द्वितीया च वर्गानयनक्रिया । तत्र तावले(ल्ले)खास(क्ष)रस्य संख्या-क्रिया भण्यते–वर्गेये(र्गयि)त्वाऽऽदां स्थापितं प्राकृतप्रतिरास(रया?) पंचपंचास(श)ता भागमपहाय

संवत्सराक्षरस्य प्रश्नाक्षराणामादौ स्थितस्य यदा ग ज ड द ब ल सा नामन्यतमाक्षरोऽनन्तरमेवागतो दृश्यते तदा ग्रीष्मकाल आदेश्यः । तस्य संवत्सराक्षरस्य आदौ स्थितस्य यदा घ झ ढ ध भ व हा नामन्यतमाक्षरो दृश्यते तदा प्रावृट्कालो वाच्यः ॥ २१२ ॥

पंचमयंमि य वरिसा, वसंतकालं च पढमकादीसु ।
आयक्खरेसु पंचसु, सरओ सेसेसु चउ(उ)त्थं पि ॥ २१३ ॥

तस्यैव संवत्सराक्षरस्य, प्रश्नाक्षराणामाद्यस्य [प० ११५,पा० २] ङ ञ ण न मा[ना]मन्यतमाक्षरो यदाऽनन्तरमेवागतो दृश्यते तदा वर्षाकालो(लः) । तस्यैव संवत्सराक्षरस्य प्रश्नाक्षराणामाद्यस्य अ ए क च ट इत्येतेषां पञ्चाना[म]नन्तरमेवागतो दृश्यते तदा वसन्तकालो(ल) आदेश्यः । तस्यैव संवत्सराक्षरस्य प्रश्नाद्यक्षराणामाद्यस्य त प य श(शा?) इत्येतेषां चतुर्णां केचिन् मन्यते न द्वाभ्यां यकार-स(श)काराभ्यां तदा प्रथमपंचके 'अ-ए' स्वरद्वयं न गण्यते । क च ट त प इत्येते तद् गण्यन्ते । एषां यदाऽनं[प० ११६,पा० १]तरमेवान्यतमाक्षरो दृश्यते तदा शरत्काल आदेश्यः । पौष-माघौ हेमन्तः । फाल्गुन-चैत्रौ वसन्तः । वैशाख-ज्येष्ठौ ग्रीष्मः । आषाढ-श्रावणौ प्रावृट्कालः । भाद्रपद-अश्वयुजौ वर्षाकालः । कार्तिक-मार्गशीर्षौ शरत् । एवं क्रमः । गाथा-बंधानुलोमतया यथा तथोक्तः ॥ २१३ ॥

पढमस्स पढमतइए, फग्गू चित्तो य दोसु चाईसु ।
दोस(सु) य कत्तियमासो, मग्गसिरो दोसु चरिमेसु ॥ २१४ ॥

प्रथमवर्गस्य प्रथम-द्वितीय-तृतीये च [प० ११६,पा० २] अ-ए-क फाल्गुनः । प्रश्नादौ व्यव-स्थितैरि(रु)क्तैरनन्तरोक्तानां प्रथमानां मासाक्षराणामन्यतमो यदा दृश्यते तदा फाल्गुनो मासः । एवं क्रमेण चकार-टकारौ चैत्रः । तकार-पकारौ कार्तिकः । य-स(श) मार्गशीर्षः ॥ २१४ ॥

एमेव सेसयाणं, उडुवग्गाणं पंच चउरो(त्था) य ।
मासक्खरा उ कमसो, पोसादी जाव अस्सजुज्जो(जो) ॥ २१५ ॥

आ ऐ ख छ ठ पौषः । थ फ र ष माघः । इ ओ ग ज ड वैशाखः । द ब ल स ज्येष्ठः । ई औ घ झ ढ आषाढः । ध भ व ह श्रावणः । [प० ११७,पा० १] उ ङ ञ ण भाद्रपदः । न म अं अः अश्वयुजः । एवं पौषादिरश्वयुजपर्यवसा[न]मिति । तत्र चतुर्थवर्गाक्षरा ये च वत्सर-अ(रा)क्षराः । पंचमवर्गाक्षराः ङ ञ ण न मा मासाक्षराः । ते मासाक्षराः संवत्सराक्षराणामुपरि-गता अमतो वा व्यवस्थितानां दहंति । दग्धेषु तेषु वर्णाक्षरा मासाक्षरा भवन्ति । तैर्मासादेशः कार्यः । अश्वयुजमासादारभ्य वर्षप्रवृत्तिः, समाप्तिश्च तस्य भाद्रपदमासे । एवं मासक्रमः उक्तः । अनेन लाभालाभ[प० ११७,पा० २]-सुखदुःख-गमनागमन-जीवितमरण-नष्टजातकादिषु संख्यया लब्धया प्रश्नाक्षरैः काल आदेश्यः सुसमाहितेन निमित्ते(त्त)ज्ञानवं(व)तेति ॥ २१५ ॥

॥ कालप्रकरणं समाप्तम् ॥

लाभद्धि(द्रि)यस्स लाभं, वदिज्ज जइ उत्तरा हु अणभिहया ।
अहरेसु णत्थि लाहो, जे वि[य] अहराहरा चउरो ॥ २१६ ॥

[प० ११८,पा० १] अनभिहतोत्तराक्षरबहुले प्रश्ने प्रगुला(लो)भ आदेश्यः । अधराक्षराधिके नास्ति लाभः। येऽपि चाधराधरा[ः] चत्वारः स्वराः प्रागुक्ता[ः] तेऽप्यलाभकराः। 'आ ई ऐ औ' एतेष्वधिकेषु लाभो नास्तीति ॥ २१६ ॥

लब्भइ लहं(हुं) सजोणुत्तरेसु[प]रजोणि उत्तरे लाभं ।
लब्भइ विलंबियकाले, सपरिके(क्के)सं [प० ११८,पा० २] अहएसु ॥२१७॥

उत्तरजीवाक्षरबहुले प्रश्ने अभिप्रेतमर्थ(र्थं) क्षिप्रं लभते स्वजना[त्], तैरेव जीवाक्षरैरधिकेषु प्रश्ने उत्तरधात्वक्षरमिश्रेषु उत्तरमूलाक्षरमिश्रेषु वा परश(स)काशाल्लाभो वाच्यं(च्यः) । एषामेव जीवधातु-मूलाक्षरा[णा]मुत्तराणामधिकानां आलिंगिताभिधूमितानां चिरात् परिक्लेशेन चाऽभिप्रेतार्थमर्थं प्राप्नोति । यतः कृ(कु)तश्चिद्(द्)ग्धेनैवास्ति लाभ इति ॥ २१७ ॥

जह चेव य अभिघात्ते, तह चेव य उत्तराहरेसुं पि ।
धातुस्सरा य चरिमा, [प० ११९,पा० १] सभावदीहा य अहरहरा ॥२१८॥

शुभाशुभं पृच्छतः अभिघातरा(ता)लिंगिताभिधूमितदग्धलक्षण उत्तराक्षरेणाधरेण आलिंगितो(ते) उत्कृष्टात् सकाशादल्पक्लेशो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाधरो(रा)क्षरेणाभिधूमिते सत्युत्कृष्टात् सकाशान्मध्यमक्लेशो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाधरो(रा)क्षरे दग्धे सत्युत्कृष्टात् सकाशान्महाक्लेशो भवति । अधराक्षरेणोत्तराक्षरे आलिंगिते धर्मादल्पदुःखमवाप्नोति । अधराक्षरेणोत्तराक्षरे अभिधूमिते धर्म(र्मात् ?)मध्यमं दुःखमवा[प० ११९,पा० २]प्नोति । अधराक्षरेण उत्तराक्षरे दग्धे धर्मान्महद्[द्]दुःखमवाप्नोति । एवं शुभाशुभं पृच्छतो वाच्यम् । धातुस्वरौ द्वौ 'उ ऊ', चरिमौ 'अं अः', ङ ञ ण न माः । स्वभावदीर्घास्त्रयः स्वराः 'ई ऐ औ' । इत्येतेषां मध्ये 'ई औ' अधराधरो(रौ) चतुर्थवर्गप्रतिबद्धत्वात् । एते दाहा वहन्ति, न लाभं कुर्वन्त्यधिकाः प्रश्ने । दाह(हा)श्च पूर्वोक्ता एव ॥ २१८ ॥

अहरेसु अत्थि लाहो, जइ उत्तरवंजणेण अणुवलिओ ।
अहरबलाणुवलेणं, पुणो(?) भणिज्ज लाभं तु णत्थि त्ति ॥ २१९ ॥

अह(ध)रेषु लाभः प्रतिबद्धः अपि वादार्थं भवत्यधरेषु लाभो यदु[प० १२०,पा० १]त्तरेण्वनुपलिता भवन्ति । यदा त्वधराः अधरानुबलास्ता(स्त)दा नास्त्येव लाभ इति ॥ २१९ ॥

जइ अक्खरअणभिहया, पण्हे दंसीति उत्तरा लहुआ ।
तो भणसु रायलाभं, अहराहरसंजुए णत्थि ॥ २२० ॥

प्रश्नायां उत्तराः लघवः जीवाक्षराः अनभिहता शुद्धा यदा बहवः, तदा क्षत्रियस्य राज्यार्थिनो राज्यलाभः । शेषवर्णानां यथास्वमर्थलाभो वाच्यः । योनिधि(वि)शेषाच्चाक्षराणां तथा देश्यम् । 'अधराधर' इति अधरैः अधरस्वरयुक्तैर्नास्ति लाभ इति प्रागुक्तमेवेति ॥ २२० ॥

लाभंमि पढमदिट्ठे, [प० १२०,पा० २] तिविहं कालं तु निद्दिसे तस्स ।
अतिगतमेस्सं वट्टन्त पंचवग्गाणुमाणेणं ॥ २२१ ॥

लाभाधिकार एवायम्—लाभे प्रथमं दृष्टे त(त्रि)विधे कालमतीतमनागतं वर्त्तमानं च । वर्गाणां परिणामेन निर्दिशेदित्येतत्सूत्रमुपरि गाथा(थ)या व्याख्यास्यति ॥ २२१ ॥

पढमतइया हु वग्गा, वट्टंते वितईअ(बियई)ओ अईअंमि ।
सेसा दोन्नि वि वग्गा, कालंमि अगामिय(य आगमि)स्संमि ॥ २२२ ॥

प्रथमवर्गाक्षरा[प० १२१, पा० १]णां क च ट त प य शा नाम्, तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नाम्, अन्यतमाधिके प्रश्ने वर्तमानकालमवगच्छ । द्वितीयवर्गाक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा णामन्यतमाधिके अतीतकालचमगच्छ । शेषवर्गाक्षराणां घ झ ढ ध भ व हा नाम्, ङ ञ ण न मा नां चान्यतमाधिके भविष्यत्कालमवगच्छ । यदुक्तं वर्तमानकालाधिके प्रश्ने प्रधुव(वं)र्तमानकालो(ले) लाभः । अतीताक्षर[प० १२१, पा० २]बहुले प्रश्ने आसीला(? अतीताल्ला)भः । भविष्यत्कालाधिके प्रश्ने भविष्यति लाभः ॥ २२२ ॥

जा जस्स पुव्वभणिया, जोणी तस्सक्खराइ लक्खेज्जा ।
तस्सेव वदे लाभं, वा पाविय णिद्दिसे तेणं ॥ २२३ ॥

या यस्य जीव-धातुमूलानां योनिरुक्ता तस्यास्त्रिविधाया यौ (योनेः) प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा जीवाक्षरा अधिका भवंति तदा जीवं लभ्यत इति [प० १२२, पा० १]प्रष्टा(द्रष्टा)(ष्टुर्वा)च्यम् । द्विपद-चतुष्पदस्य वा अक्षरानुमानेन पूर्वोक्तक्रमेणैव ज्ञेयम् । एवं धा(तु)त्वक्षरा यदा बहव[ः] तदा धातुं प्राप्स(प्स्य)तीति प्रष्टुर्वा(र्वा)च्यः । यदा मूलाधिकः, तदा मूलद्रव्यमवाप्नोतीति वक्तव्यम् ॥ २२३ ॥

तदा वक्तव्य इति गाथान्तरेणाह—

पण्हक्खरेसु पढमो, जारिसओ उद्दिसिज्ज जीवाई ।
तारिसयस्स य लाभो, दायाति य [प० १२२, पा० २] णिद्दिसे तेणं ॥२२४॥

उक्तार्थैव गाथा ॥ २२४ ॥

पढमाइ बंभणाणं, बीओ वग्गो हवइ वेसाणं ।
तइओ य खत्तियाणं, सुद्दाणं सेसया दोण्णि ॥ २२५ ॥

प्रथमवर्गाक्षराणां क च ट त प य शा नां अन्यतमाधिके प्रश्ने ब्राह्मणसकाशाल्लाभो(लाभ) आदेश्यः । द्वितीयवर्गाक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा णां अन्यतमाधिके प्रश्ने वैश्याला(ल्ला)भो वक्तव्यः । तृतीयवर्गाक्षरा[णां] ग ज ड द ब ल सा नामन्यतमाधिके प्रश्ने क्षत्रियाला(ल्ला)भो वक्तव्यः । शेषवर्गाणां घ झ ढ ध भ व हानां बाहुल्ये तदा शूद्रा[त्] लाभो वक्तव्य [प० १२३, पा० १] इति । ङ ञ ण न मा [नां] अन्यतमबहुले संकरजातीयाला(ल्ला)भ इति । अस्यैव जातीयस्य उक्ता उक्तं च द्रष्टव्यम् ॥ २२५ ॥

अप्पे(प्पे)त्ति यणभिहया, वण्णिया (ग्गिय ?) वग्गा(ण्णा ?)सवग्गसंजुत्ता ।
अभिहयपरसंजुत्ता, णीया (णय) हीणाहियसमा भणिया ॥ २२६ ॥

अनभिहताः सर्ववर्णाक्षराः तावलि(र्लि)गो भवति । तैः प्रश्नाधिके लाभो भवति । ये परपा(स्प)रमभिघ्नन्ति । क च ट त प य शा[सै]रुपरिगतैः, घ झ ढ ध भ व हा नां च ग ज ड द ब ल सै

रुपरिगतैभ(र्भ)वति । स्व[र]गसंयोगः । तद्बहुले प्रश्ने लाभो भवति । ये परस्परमभिघ्नंति । स चाभि[प० १२३, पा० २]घातस्त्रिविधः । आलिंगितादिकः पूर्वोक्तः । योऽसौ प्रता तदभिघातेन यम्मा(र्गाः?) कदाचित्संख्यया हीना[ः] कदाचिर(द)धिका[ः] कदाचित्समा भवति(न्ति) । एकै-(ते?)न अभिम(ह)न्यंते(?) । हीने(?) फललाभ[ः] प्रश्ने समे ईषत्फलं भवति । दृष्टैरधिकैस्त(श्च) फलाभावः । एवमेभि(भिः) शुद्धदोषैः शुभाशुभमध्यमादेश्यम् ॥ २२६ ॥

पढम-तइज्ज(ज्जे) वग्गे, होइ [प० १२४, पा० १] सुही दुक्खिओ बी[य]-चउत्थे ।
पंचमए पुण वग्गे, सुह-दुक्खे(क्खं) मज्झिमं तस्स ॥ २२७ ॥

प्रथमवर्गः—क च ट त प य शाः । तृतीयो वर्गः—ग ज ड द ब ल साः । एषामक्षराणां बाहुल्ये सुखविवक्षायां प्रष्टु[ः] सुखलाभो भविष्यति सुखाशान्ति(प्ति)रित्यर्थः । द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र षाः । चतुर्थो—घ झ ढ ध भ व हाः । रे(ए)तेषां अक्षराणां बाहुल्ये प्रष्टादु(दुःख)त्पातो [प० १२४, पा० २] ज्ञेयः । दु(उ)त्पा[ता]गमो वा भविष्यतीति । पंचमवर्गो—ङ ञ ण न माः । तेषु च [सुख]दुःखं मध्यममवाप्नोति । एवमसौ सुख-दुःखी (खानि?) वा तत्राप्ने(प्नो)ति येवं(एवं) वाच्यम् ॥२२७॥

बीय-चउत्था वग्गा, दिट्ठा इच्छंति सुबहु आउं [च] ।
पंचमओ पुण वग्गो, मभि(ज्झि)मआउं सया इच्छे ॥ २२८ ॥

द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र षाः । चतुर्थः—घ झ ढ ध[प० १२५, पा० १]भ व हाः । एतेषाम-क्षराणां बाहुल्ये आयु[ः] पृच्छतः, आयु[ः] प्रभु(भू)तं वक्तव्यम् । फलं लाभादिकं पृच्छति(तः) अल्पं वक्तव्यम् । पंचमवर्गाक्षरा[णां]—ङ ञ ण न मा नां बाहुल्ये मध्यमायुः पृच्छकस्य, लाभप्रश्ने मध्यमो लाभो वाच्यः ॥ २२८ ॥

उत्तरसरसंयु(जु)त्ता, सव्वे अप्पाउआ फलमुवेंति । [प० १२५, पा० २]
अहरस्सरसंजुत्ता, तुह (?सुबहुं) इ(य)च्छंति ते आउं ॥ २२९ ॥

उत्तरस्वराः पूर्वोक्तास्तैः संयुक्ता उत्तराक्षराः प्रथम-तृतीयवर्गीयाः । तद्बहुले प्रश्ने यदि लाभादिकं फलं पृच्छति तेषां प्रभूतं फलं भवति । येऽप्यायुः पृच्छंति तेषामल्पमायुर्भवति(ती)-त्यादेश्यम् । त एवाधिका उत्तराक्षरा अधरस्वरयुक्ता आयुःप्रश्ने प्रभूतमायुः प्रयच्छंति । फल-प्रश्ने फलं चाल्पं लाभादिकमिति ॥ २२९ ॥

अहव विसण्णो आयुंमि होइ सुद्धेसु काइमाईसु ।
सत्तण्ह मेसममा(वसा?)दि सरसंजुत्तेसु विवज्जासो ॥ २३० ॥

पंचवर्गन्यायेन स(सा)मान्यतः फलं पृच्छकस्यायु[प० १२६, पा० १]श्चोक्त[म्] । अष्ट-वर्गन्यायेन दृष्टमुत्पाद्य आयुर्विभागो नष्टविभागो नष्टजातकमिति वक्तव्यमिति । कायादि-सप्तवर्गेषु शुद्धेषु मेषादिराशयः । सप्त कथं ? । प्रश्नाक्षरं गृह्य आद्यक्षरं त्वरया द्वितीये 'क च ट त प य श'वा(दि)वर्गाक्षराणां वर्गान्यतमं शुद्धमात्रारहितं यद् वर्गमध्यं याति दृष्टं स राशि(शि)-रित्यादिः । तत्र च वर्गे यदि (यता?)मो वर्ण[ः] तति लिप्ता(कला?) शोध्या । षटंस(श)को वर्णः । वर्णे पट्टलाः सो(शो)ध्याः । शुध्यमानस्य वर्णप्रमाणेन पट्टलाः शोध्याः । पट्ट(ठव?)र्गस्य पंचमो रेफः, स-

पढमतइया हु वग्गा, वट्टंते वित्तईअ(त्रियई)ओ अईअंमि ।
सेसा दोन्नि त्रि वग्गा, कालंमि अगामिय(य आगमि)स्संमि ॥ २२२ ॥

प्रथमवर्गाक्षरा[प० १२१, पा० १]णां क च ट त प य शा नाम्, तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नाम्, अन्यतमाधिके प्रश्ने वर्तमानकालमवगच्छ । द्वितीयवर्गाक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा णामन्यतमाधिके अतीतकालवमगच्छ । शेषवर्गाक्षराणां घ झ ढ ध भ व हा नाम्, ङ ञ ण न मा नां चान्यतमाधिके भविष्यत्कालमवगच्छ । यदुक्तं वर्तमानकालाधिके प्रश्ने प्रवुव(वं)र्तमानकालो(लि) लाभः । अतीताक्षरा[प० १२१, पा० २]बहुले प्रश्ने आसीला(? अतीताल्ला)भः । भविष्यत्कालाधिके प्रश्ने भविष्यति लाभः ॥ २२२ ॥

जा जस्स पुव्वभणिया, जोणी तस्सक्खराइ लक्खेज्जा ।
तस्सेव वदे लाभं, वा पाविय णिद्दिसे तेणं ॥ २२३ ॥

या यस्य जीव-धातुमूलानां योनिरुक्ता तस्यास्त्रिविधाया यो (योनेः) प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा जीवाक्षरा अधिका भवंति तदा जीवं लभ्यत इति [प० १२२, पा० १]प्रष्टावा(द्वुवो)च्यम् । द्विपद-चतुष्पदस्य वा अक्षरानुमानेन पूर्वोक्तक्रमेणैव ज्ञेयम् । एवं धा(तु)त्वक्षरा यदा बहव[ः] तदा धातुं प्राप्स(प्स्य)तीति प्रष्टुवा(वो)च्यः । यदा मूलाधिकः, तदा मूलद्रव्यमवाप्नोतीति वक्तव्यम् ॥ २२३ ॥

तदा वक्तव्य इति गाथान्तरेणाह—

पण्हक्खरेसु पढमो, जारिसओ उद्दिसिज्ज जीवाई ।
तारिसयस्स य लाभो, दायाति य [प० १२२, पा० २] णिद्दिसे तेणं ॥२२४॥

उक्तार्थैव गाथा ॥ २२४ ॥

पढमाइ बंभणाणं, बीओ वग्गो हवइ वेसाणं ।
तइओ य खत्तियाणं, सुद्दाणं सेसया दोण्णि ॥ २२५ ॥

प्रथमवर्गाक्षराणां क च ट त प य शा नां अन्यतमाधिके प्रश्ने ब्राह्मणसकाशाल्लाभो(लाभ) आदेश्यः । द्वितीयवर्गाक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा णां अन्यतमाधिके प्रश्ने वैश्याल्ला(ल्ला)भो वक्तव्यः । तृतीयवर्गाक्षरा[णां] ग ज ड द ब ल सा नामन्यतमाधिके प्रश्ने क्षत्रियाल्ला(ल्ला)भो वक्तव्यः । शेषवर्गाणां घ झ ढ ध भ व हानां बाहुल्ये तदा शूद्रा[त्] लाभो वक्तव्य [प० १२३, पा० १] इति । ङ ञ ण न मा [नां] अन्यतमबहुले संकरजातीयाल्ला(ल्ला)भ इति । अस्यैव जातीयका उक्ता उक्तं च द्रष्टव्यम् ॥ २२५ ॥

अथे(प्पे)वि यणभिहया, वण्णिया (भिगय ?) वग्गा(ण्णा ?)सवग्गसंजुत्ता ।
अभिहयपरसंजुत्ता, णीया (णय) हीणाहियसमा भणिया ॥ २२६ ॥

'अनभिहताः सर्ववर्णाक्षराः तायलिं(लिं)गो भवति । तैः प्रश्नाधिके लाभो भवति । ये परपा(स्प)रमभिघ्नन्ति । क च ट त प यशा[स्तै]रुपरिगतैः, घ झ ढ ध भ व हा नां च ग ज ड द ब ल सै

रुपरिगतैभ(र्भ)वति । स्व[व]र्गसंयोगः । तद्बहुले प्रश्ने लाभो भवति । ये परस्परमभिघ्नंति । स चाभि[प० १२३, पा० २]घातस्त्रिविधः । आलिंगितादिकः पूर्वोक्तः । योऽसौ प्रता तदभिघातेन घग्मा(र्गाः ?) कदाचित्संख्यया हीना[ः] कदाचिर(द)धिका[ः] कदाचित्समा भवति(न्ति) । एकै-(त ?)न अभिम(ह)न्यंते(?) । हीने(?) फललाभ[ः] प्रश्ने समे ईषत्फलं भवति । दृष्टैरधिकैस्त्व(श्च) फलाभावः । एवमेति(भिः) शुद्धशेषैः शुभाशुभमध्यमादेश्यम् ॥ २२६ ॥

पढम-तइज्ज(ज्जे) वग्गे, होइ [प० १२४, पा० १] सुही दुक्खिओं बी[य]-चउत्थे ।
पंचमए पुण वग्गे, सुह-दुक्खे(क्खं) मज्झिमं तस्स ॥ २२७ ॥

प्रथमवर्गः—क च ट त प य शाः । तृतीयो वर्गः—ग ज ड द ब ल साः । एषामक्षराणां बाहुल्ये सुखविवक्षायां प्रष्टु[ः] सुखलाभो भविष्यति सुखावान्ति(प्ति)रित्यर्थः । द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र षाः । चतुर्थो—घ झ ढ ध भ व हाः । रे(ए)तेषां अक्षराणां बाहुल्ये प्रष्टादु(ष्टुरु)त्पातो [प० १२४, पा० २] ज्ञेयः । दु(उ)त्पा[ता]गमो वा भविष्यतीति । पंचमवर्गो—ङ ञ ण न माः । तेषु च [सुख]दुःखं मध्यममवाप्नोति । एवमसौ सुख-दुःखी (खानि ?) वा तत्राप्ये(प्नो)ति येवं(एवं) वाच्यम् ॥२२७॥

वीय-चउत्था वग्गा, दिट्ठा इच्छंति सुबहु आउं [च] ।
पंचमओ पुण वग्गो, मभि(ज्झि)मआउं सया इच्छे ॥ २२८ ॥

द्वितीयवर्गाः—ख छ ठ थ फ र षाः । चतुर्थः—घ झ ढ ध[प० १२५, पा० १]भ व हाः । एतेषाम-क्षराणां बाहुल्ये आयु[ः] पृच्छतः, आयु[ः] प्रच्छु(भू)तं वक्तव्यम् । फलं लाभादिकं पृच्छति(तः) अल्पं वक्तव्यम् । पंचमवर्गाक्षरा[णां]—ङ ञ ण न मा नां बाहुल्ये मध्यमायुः पृच्छकस्य, लाभप्रश्ने मध्यमो लाभो वाच्यः ॥ २२८ ॥

उत्तरसरसंयु(जु)त्ता, सव्वे अप्पाउआ फलमुवेंति । [प० १२५, पा० २]
अहरस्सरसंजुत्ता, तुह (?सुबहुं) इ(य)च्छंति ते आउं ॥ २२९ ॥

उत्तरस्वराः पूर्वोक्तास्तैः संयुक्ता उत्तराक्षराः प्रथम-तृतीयवर्गीयाः । तद्बहुले प्रश्ने यदि लाभादिकं फलं पृच्छति तेषां प्रभूतं फलं भवति । येऽप्यायुः पृच्छंति तेषामल्पमायुर्भवति(ती)-त्यादेश्यम् । त एवाधिका उत्तराक्षरा अधरस्वरयुक्ता आयुःप्रश्ने प्रभूतमायुः प्रयच्छंति । फल-प्रश्ने फलं चाल्पं लाभादिकमिति ॥ २२९ ॥

अहव विसण्णो आयुंमि होइ सुद्धेसु काइमाईसु ।
सत्तण्ह मेसममा(वसा?)दि सरसंजुत्तेसु विवज्जासो ॥ २३० ॥

पंचवर्गन्यायेन स(सा)मान्यतः फलं पृच्छकस्यायु[प० १२६, पा० १]श्चोक्त[म्] । अष्ट-वर्गन्यायेन एवमुत्पाद्य आयुर्विभागो नष्टविभागो नष्टजातकमिति वक्तव्यमिति । कादि-सप्तवर्गेषु शुद्धेषु मेषादिराशयः । सप्त कथं ? । प्रश्नाक्षरं गृह्य आद्यक्षरं त्यक्त्वा द्वितीये 'क च ट त प य शा'वा(दि)वर्गाक्षराणां वर्गान्यतमं शुद्धमात्रारहितं यद् वर्गमध्यं याति दृष्टं स रासि(शि)-रत्यारिः । तत्र च वर्गे यदि (यवी)मो वर्ण[ः] तति लिप्ता(कला?) शोध्या । षडंस(श)को वर्णः । वर्णे षट्लाः सो(शो)ध्याः । शुध्यमानस्य वर्णप्रमाणेन पट्लाः शोध्याः । षड्(षव?)र्गस्य पंचमो रेफः, स-

[प्रम]वर्गस्य धकारः, थ ए ध ट च [प० १२६, पा० २]वर्गाश्च धृभिकारिकाः । एते स्वराः संवत्सरैव कुर्वन्ति । एवं स्वरयुक्ता आद्यंतत्यागेन [वि?] पर्ययो द्रष्टव्यः । एवं वर्ग(र्ते?)मानं छमं प्रश्नाक्षरे-ष्ठत्पाद्यते । यतः सिद्धाक्ष[र]राशिरुत्पद्य(त्पाद्यः ?) । कथं द्वादश स्वरा द्विगुणीकृत्यास्याप्याकाश-प्रभया दशकसंख्यया निव्यया गुण्य जातं शतद्वयं चत्वारिंश[प० १२७, पा० १]त्यधिकं सिद्धरासि(शिं) स्थाप्य प्रश्नागतलमांशा[न्] विशोध्य शेषभागं ककारगर्भेण कादिवर्गाष्टकगुणेन लब्धं एकान्ते स्थाप्य, रूपमेकं शेषवर्णांकानां यथादृष्टां(ष्टं) स्थाप्य, पष्टिच्छेदं वाऽवस्थाप्य, उपरिवर्णराशिसव-र्ण्य(?) पष्टिपंचभिगु(र्गु)ण्यं तेन भागोपरि राशे[ः] लब्धानि वर्षाणि । शेषं स्वरगुणं लब्धा मा-सा[ः] चाक्षरद्वयगर्भगुणे दिनानि । 'क च ट स' चतुरक्षरवर्गगुणे [प० १२७, पा० २] घटिकाः । एतद्वर्पोविक्रमेण स्थाप्य ककारगर्भपड्वर्गगुणाद्विशोध्य पृच्छकस्य प्रथम-मध्यम-तृतीयावस्थां निजा(ज्ञा)य धारयादिव्यंथ देयम् । विसो वा अष्टवर्गा ये आद्यन्तपाते पड्वर्गक्षेपोपचतो वा तृतीयदसा(शा)यां 'अ ए क च ट त प य स' वर्गं शोध्यं वाऽय(प)नीयं वा । एवमावृत्त्या यावधि-(त्रि?)श्चिसकाल इति । यावंतस्स(श्च) पर्याया धात्वादि[प० १२८, पा० १]र(त्रि)कस्य मलाद्यवसात्तु शुध्यति(न्ति) प्रक्षिप्यन्ते वा तावद्वर्णक्षेपाद्योऽप्यसाधाद्योवण्ण(?)सावपि शुद्धा पात्यो देयो वा । एवं पृच्छकस्यातीतः कालः स्फुटः । आगामिकालपरिज्ञानार्थं च एषः अति(ती)तकालः, एषः चतुष्टयगुणाकारः, गर्भाद्विसो(शो)ध्य वर्षादि । इदानीं दसायाव(ती) दसा(शा) विभागां-सा(शा) प[त]ति तावति(ती) इह क्षेप्याक्षिप्तेषु पात्या । [प० १२८, पा० २] इह शेषमार्गोदि-वर्गोविस(ग)ण उभययोगे सर्वे(र्व) वर्णोममिति (?) ॥ २३० ॥

आउंमि जो वियप्पो, काले देसे य होइ सो चेव ।
अणुणासिया य सव्वे, चरिमा सेसा समा भणिया ॥ २३१ ॥

आयुषि यः क्रमोऽभिहितः स एव कालो(ले) वक्तव्यः । उत्तराक्षरैरधिकैः क्षिप्र ल[प्स्य]तीति वक्तव्यम् । अधराक्षरैरुत्तराक्षरान(नुवि?)लितैः, दृष्टि(ष्टै)रधिकैः च(चि?)रेण प्राप्स्यतीति प्रष्टा वाच्यः । देसो(शो) ग्राम-विषयादिलक्षणः । ग्रामादिकस्य लाभो भवतीति प्रश्ने उत्तराक्षरैरधि-कैर्लब्धैः [क्षिप्रं] अधराक्षरैश्चोत्तरानुवलितैः [प० १२९, पा० १] च[चि?]रेण लाभः । अधराक्षरै-श्चाधिकैर्नास्ति लाभः । अनुनासिकाश्चरिमसंज्ञास्तैः समो लाभः स्वयोनिगुणतुल्य इति ॥२३१॥

॥ लाभगंडिकाप्रकरणं समाप्तम् ॥

इत(तइ)य-पढमेसु य जलं, बीय-चउत्थेसु अप्पपाणीयं ।
पंचमए पुण वग्गे, णत्थि जलं चेव णायव्वं ॥ २३२ ॥

प्रथमवर्ग-तृतीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने नास्ति जलमादेश्यम् । या मात्रा [ः ?] स्ववर्गप्रति-बद्धाः ताभिरप्येवमेवेति ॥ २३२ ॥

पढम-तइएसु [पर]मा, बितिए मज्झा उ सस्ससंपत्ती ।
चउ-पंचमए आयरिए (?) णत्थि सस्सं ते(ति) जाणेज्जा ॥ २३३ ॥

प्रथम-तृतीय[प॰ १२९,पा॰ २]वर्गाक्षराधिके सस्यनिष्पत्तिः उत्कृष्टा । द्वितीयवर्गाक्षराधिके मध्यमा सस्यनिष्पत्तिः । चतुर्थवर्गाक्षराधिके स्तोकं निष्पद्यते । पंचमवर्गाक्षराधिके स्तोकमपि नास्ति सस्यम् ॥ २३३ ॥

पढम-तइयंमि वग्गे, सइत्तणं तह य बीयए असई ।
चउत्थ-पंचमए वग्गंमि(ग्गे) णत्थि सइ च्चिय णायव्वा ॥ २३४ ॥

प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने महती सती ज्ञेया । द्वितीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने मध्यमा सती ज्ञेया । चतुर्थ-पंचमवर्गाक्षराधिके प्रश्ने सतीरेव नास्तीति निष्पत्त्यभावात् ॥ २३४ ॥

॥ वर्गस्य [प॰ १३०,पा॰ १] गंडिका समाप्ता ॥

आद्दा पुस्सो [य] महा, हत्थो चित्ता तहेव [साई य] ।
जिट्ठा [मू]लो एए, इ(दु)अक्खरा अट्ठ नक्खत्ता ॥ २३५ ॥

आर्द्रा-पुष्य-मघा-हस्त-चित्रा-स्वाति-ज्येष्ठा-मूला अष्टौ रे(द्व्य)क्षराणि नक्षत्राणि ज्ञातव्यानि ॥

अस्सिणि भरणि तह(य) किंत्तिय, रोहिणि फणिदेवया विसाहा य ।
रेवय सवण धणिट्ठा, तिअक(क्ख)रा णव उ नक्खत्ता ॥ २३६ ॥

अश्विनी-भरणि-कृत्तिका-रोहिणी-अश्लेषा-[विशाखा]-श्रवण-धरि(नि)ष्ठा-रेवत्य इति नवनक्षत्राणि अ(त्र्य)क्षराणीति ॥ २३६ ॥[प॰ १३०,पा॰ २]

मिगसिर पुणव(व्व)सु तिन्नि, पुव्वासाढाणुराधजलदेवा ।
एए पंच वि र(रि)क्खा, चउरक्खरनामया भणिया ॥ २३७ ॥

मृगसि(शि)रः पुनर्वसुः पूर्वाषाढा अनुराधा शतभिषा एतानि पंच नक्षत्राणि [चतुरक्षरनामकानि भणितानी]ति ॥ २३७ ॥

भगदेवा दगदेवा, रिक्खा पंचक्खरा दुवे एते ।
अट्ट(ज्ज)म-विस्सा छक्कं, सत्तक्खवि(रि)याहिवुद्धी(वन्धु?)या ॥ २३८ ॥

पूर्वाफाल्गुनी उत्तराषाढा द्वे एते नभाव(भेऽ)पि पंचाक्षरौ(रे) । अर्यमदेवता–उत्तराफाल्गुनी, विश्वदेवता–पूर्वाभाद्रपदो एतौ षडक्षरौ । अहियन्धुः उत्तराभाद्रपदा सप्ताक्षरा ॥ २३८ ॥

दो[अ]क्खरमादीणं, णक्खत्तग(त्ता?)णं [कमेण ?] ठावेउं ।
पण्हाइमसंखाए,[प॰ १३१,पा॰ १] णक्खत्तगणं वियाणाहि ॥ २३९ ॥

द्व्यक्षरादीनां नक्षत्राणां सप्त(प्ता)क्षरपर्यन्तानां क्रमेण स्थापयित्वा प्रश्नाक्षराणां व्याद्यक्षरसंख्यपाऽभिपातवशाद्वा नक्षत्रगणमध्या नक्षत्रगणं जानीहि । द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं चतुरक्षरं पंचाक्षरं षडक्षरं सप्ताक्षरं चेति ॥ २३९ ॥

---

१ "गग ठावे वेडवे" इति आदर्शे भ्रष्टपाठः ।

(ह्रासं ?) प्राप्नुवंति । निदर्शनम्–[ककारः] खकारेणालिंगितश्चकारं प्राप्नुवं(प्नो)ति । एवं चकारः छ(छ?)कारेणालिंगितः ड(ट)कारं प्राप्नुवं(प्नो)ति । तथा गकारो [प० ११७,पा० २] घकारेणाभिधूमितः जकारं प्राप्नुवं(प्नो)ति । जकारः झकारेणाभिधूमितः डकारं प्राप्नोति । एवं घकारो ड(ङ?)कारेण दग्धः झकारं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि [वर्गा]क्षराः संयुक्ता द्वितीयादिवर्गान् प्राप्नुवंति । द्वितीयवर्गग्रहणेन द्वितीयोऽक्षर उच्यते । त एव संयुक्ता आलिंगिताः स्थानद्वयहसि[त]त्वात् ते तदा तृतीयं स्थानं टवर्गं प्राप्नो(प्नुवं)ति । एवं गकारोऽपि संयुक्तो यदाऽऽलिंग्यते तदा [प० ११८,पा० १] तृतीयं वर्गं प्राप्नोति । एवं संयुक्ताभिधूमिताश्चतुर्थो(र्थम् ?) दग्धाः पंचममिति ॥ २४६ ॥

सट्ठाणमुवेंति दढा, वत्तीसं एत्थ होंति संयो(जो)गा ।
हुस्सा य संति कमसो, चउवग्गकमेण एक्केक्कं ॥ २४७ ॥

स्वस्था[न]मुप(मुपय ?)न्ति दग्धाः । तत्र स्वरा(णां?)क्षरसंयोगेना(ना)लिंगिताभिधूमितदग्धसंयोगेन च द्वात्रिंस(शत्)संयोगा भवन्ति । तानुपरि निर्वर्णयिष्यति । अष्टौ वर्गाः संयुक्तालिंगितदग्धाभिधूमिता इत्येते चतुर्भिर्विकल्प[प० ११८,पा० २]ल्पैर्गुणिता द्वात्रिंस(त्रिंश)द् भवति(न्ति) । ह्रिस्ता(ह्रसिता)येऽक्षरास्ते आलिंगितास्ते द्वितीयं स्थानं प्राप्नुवंति । अभिधूमिता[ः] तृतीयम् , दग्धा[ः] चतुर्थं स्थानं प्राप्नुवंति । एतच्च निदर्शनेन पूर्वशेषा(षं?) वर्णितमितो(त उ ?)च्यते । अनंतरगाथानुसारेणास्यायमर्थः–'ह्रस्सा लहंति कमसो' चतुर्थवर्गक्रमेणेति एकेकं वर्गं प्राप्नुवन्ति । संयोगस्य [प० ११९,पा० १] च प्रक्रांतत्वात् 'अ इ ए ओ' एते चत्वारः ह्रस्वग्रहणेन स्वरा गृह्यन्ते । तत्र अकारः प्रभादौ अन्यत्र वा निरुपहतः अवर्गमेव प्राप्नोति । ककारोपरिगत इकारः कवर्गं प्राप्नोति । चकारोपरिगत एकार[ः] चवर्गं प्राप्नोति । टकारोपरिगतः ओकारः टवर्गं प्राप्नोति ॥ २४७ ॥

बितिय-चउत्थो पंचम-छट्ठो अण्णेसु लहदि [प० ११९,पा० २] आदेसा ।
लभदि अ चरिम चउक्को, तकारमादीस(सु?) एक्केक्कं ॥ २४८ ॥

द्वितीय आकारः, चतुर्थ ईकारः, पंचम [उकारः, षष्ठ] ऊकारः । एते चत्वारः स्वरा अन्यवर्गाक्षराणामुपरि प्राप्नुवंति । के ते अन्यवर्गाक्षराः ? 'त प य शाः' । तत्र तकारस्योपरिगत आकार[ः] तवर्गं लभते । पकारस्योपरिगत ईकारः पवर्गं लभते ।[प० १४०,पा० १]यु(य)कार उकारेण युक्तः य(यो?)वर्गं लभते । शकार ऊकारेण युक्तः शवर्गं प्राप्नोति । शकारश्चरिमस्तत्रास्तीति 'त प य शाः' चतु(त्वा)रोऽपि चरिमसंज्ञाः । अत एतानि(तासित) चतुके(ष्के) ह्रस्वाणां स्वराणां संयोगेन तत्प्राप्नोति(प्राप्ति)रुक्ता ॥ २४८ ॥

अणुवलिया तिहदा वा, जुत्ता पुव्वावरेण एक्केक्कं ।
एस सराण णिवेदो(सो), ककारमादी[सु] त(व)ण्णेसु ॥ २४९ ॥

अनुवलितशब्द आलिंगितवाचि(ची) । अनुवलिता द्विविधाः–उत्तरान(नु)वलिता अधरानुवलिताश्च । तत्र अधराक्षर उत्तरस्वरसंयुक्त उत्तरान(नु)वलितव(सञ्ज्ञः ?) । यद्वर्गसंबंधितेन स्वरेणाक्षरो युक्तस्तस्मिन्नेव च वर्गे [प० १४०,पा० २]उत्तरान(नु)वलितत्वादुत्तराक्षरं लभते । स्वरा[णा]मपि मध्ये स्व(त)मेव स्वरमुत्तरं प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्यधरस्वरयुक्तो अधरानुवलितसंज्ञः । यद्वर्गसंबंधी(धि ?)तेन स्वरेणाक्षरो युक्तस्तस्मिन्नेव वर्गे अधरानुवलितत्वादधराक्षरं लभते ।

स्वराणामपि मध्ये तमेव स्वरमुत्तरं(मधरं) प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्यधरस्वरमुक्तोधर............ ....† भिधूम्यते स द्वितीयवर्गमवाप्नोति । निदर्शनम्—ककारोऽभिधूमितः खकारेण [च]वर्गं प्राप्नोति । खकारोऽभिधूमितो घकारेण छवर्गं प्राप्नोति । गकारोऽभिधूमितो घकारेण जवर्गं प्राप्नोति । ककारो दग्धः ङकारेण टवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽप्यक्षरा[ः] पूर्वाभिहि[प० १४१, पा० २]तविस्तरक्रमेण द्रष्टव्या[ः] । ये संयुक्ताक्षरास्तेषामुपरि योऽक्षरः स स(स्व)वर्गाक्षरं लभते । उत्तरः उत्तराक्षरमधरोऽप्यधराक्षरमवाप्नोति । एष स्वरनिवेशक(शः) सकारादिषु हकारान्तेष्वक्षरे[षु] आलिंगिताभिधूमितदग्धलक्षण उक्तः । ह्रस्वा लभंते । आदिचतुष्कम्—अकारप्रभृतयः । [प० १४२, पा० १]अन्त्यचतुष्कं प्राप्नो(-प्नुवं?)ति साम्यां (? साम्यं) वर्गं लभन्त इति ॥२४९॥ अस्यैवार्थस्यातिदेशार्थं कारिकान्तरमाह—

जह चेव सरवसेसो (विभागो ?), ककारमादीसु धं(वं)जणेसुं पि ।
एमेव [वि] रई(इ)यव्वो, णिरंतरं जाव [उ] हकारो ॥ २५० ॥

एवमेव कर्तव्यो निरंतरं ककारादारभ्य यावत् हकार इत्येष वर्गलब्ध्यर्थं स्वरविभागो विज्ञातव्यो व्यंजनेषु । अयमर्थः पूर्वगाथयाऽभिहित इति नोक्तः ॥ २५० ॥ [प० १४२, पा० २] एवं अनानुपूर्वो(र्वी)प्रपंचेन षष्ठं प्र(?)करणम् ॥

जो य सराण विभागं, देसेदि य सत्तमो य सो करणो ।
एमेव वंजणाणं, विभावणो अट्ठमो होति ॥ २५१ ॥

उक्तार्थातिदेशार्थं गाथेयं पठिता । षष्ठमुक्तमनानुपूर्वीकरणम् । अनन्तरं स्वरयोगाद्वर्गलब्धिरुक्ता । असौ स्वरविभागो नाम सप्तमं करणम् । संयुक्तासंयुक्तविकल्पेन वर्गप्राप्तिरित्यष्टमं व्यंजनविभागो नाम प्र(?)करणम् ॥ २५१ ॥

दंसेति सव[ग्ग]क्खर-संजोगं [प० १४३, पा० १] जो य सो हवे णवमो ।
परवग्गक्खरसंजोयं, दंसेदि य दसमओ करणे ॥ २५२ ॥

स्ववर्गाक्षरसंयोगेन नवमं करणम् । इदं यथा भवति तथा पूर्वमुक्तम् । परवर्गाक्षरसंयोगा[त्] दशमं करणम् । परवर्गाक्षरसंयोगोऽपि पूर्वाभिह(हि)त एव । अनयोः करणयोर्यथाक्षरलाभ[ः] तथोपरि वर्णयिष्यामः ॥ २५२ ॥

अह उत्तराणुवलिया, हस्सा उ लहंति हस्समन(न्न)यरं ।
अहरेणऽवि हम्मंता,[प० १४३, पा० २] तेसिं चिय वग्गमण्णयरं ॥ २५३ ॥

अधराक्षरा उत्तराक्षरैरालिंगिता ह्रस्ववर्गं अन्यं लभन्ते । निदर्शनं यथा—पकारः फकारेणालिंगितो दग्धः फवर्गं प्राप्नोति, तत्सश्लिष्टोत्तराक्षरम् । एवमन्ये(न्य)वर्गेभ्योऽक्षराः प्राप्नुवन्ति । उत्तराक्षरा अधराक्षरे[ण]अभिहन्यमाना लब्धवर्गेऽधराक्षरं प्राप्नुवन्ति । यथा ककारः पकारेणालिंगित[ः] चवर्गे अधराक्षरं प्राप्नोति, अधरानुवलितत्वात् । अथवा चास्या गाथाया अन्यथा [प० १४४, पा० १]व्याख्यानम्—अधरस्वरा उत्तरैर्ह्रस्वैः स्वरैरनुवलिता ह्रस्वस्वरमेवान्यतमं लभन्ते।

† मध्यादर्शे १–२ पंक्त्यो विनष्टाक्षरा लभ्यन्ते ।

अनुनासिका ङ ञ ण न माः, ते युज्यन्ते आद्यचतुष्केण वर्गे (°स्ववर्गेण?) यथा–ङ्क ङ्ख ङ्ग ङ्घ । ञ्च ञ्छ ञ्ज ञ्झ । ण्ट ण्ठ ण्ड ण्ढ । न्त न्थ न्द न्ध । म्प म्फ म्ब म्भ । सप्तमो यकारः । अष्टमो(मः) शकारः । इत्येतौ स्व-स्वकायगुरु(रू) ज्ञेयौ । [प० १५१,पा० १] यथा 'य्य श्श' इति ॥ २५९ ॥

पढमो तदियं वग्गं, विदिओ य चउत्थयं चउत्थो य ।
पंचमओ पुण णिच्चं, चउत्थया यादए वग्गं ॥ २६० ॥ [प० १५१,पा० २]

अ	आ	इ	ई
१	२	३	४
उ	ऊ	ए	ऐ
५	६	७	८
ओ	औ	अं	अः
९	१०	११	१२

प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गां(र्गं) तृतीयवर्ग(र्गो) द्वितीयवर्गं च प्राप्तः (प्राप्नोति) । द्वितीयो वर्गश्चतुर्थवर्गं लभते । चतुर्थः पंचमं प्राप्नोति । पंचमो वर्गश्चतुर्थं प्राप्नोति । किमत्र कारणमित्यत्रोच्यते–च(ख?)कारस्याग्रतो यदा ककारो दृश्यते तदा तेन ककारेण खकारो(र) आलिंगित इत्येका(कां) संख्या(ख्यां) त्यक्त्वा खकार[ः] ककारो [प० १५२,पा० १] न भवति । गकारस्याग्रतो यदा खकारो दृश्यते तदा तेन खकारेणालिंगित इत्येकसंख्या(ख्यां) त्यक्त्वा स गकार[ः] खकारो भवति । घकारस्याग्रतो यदा खकारो दृश्यते तदा तेन खकारेणाभिधूमित इति द्वे संख्ये ह्रसित्वा घकार[ः] खकारो भवति । ङकारो घकारेणाग्रतः स्थितेन यदा आलिंग्यते तदा एका(कां) संख्यां त्यक्त्वा ङकारो घकारमापद्यते । एवमन्ये[षु] वर्गेष्वपि ये आलिंग्यन्ते अभिधूम्यन्ते वा आकारास्तेनैवाभिहितक्रमेण द्रष्टव्याः ॥२६०॥

॥ स्ववर्गसंयोगकरणं समाप्तम् ॥ [प० १५२,पा० २]

परवग्गक्खरगरुआ, पढमं पावंति अप्पणो वग्गं ।
अणुवलित्ता[?या]भिहता, लभंति पुव्वावरेणेक्कं ॥ २६१ ॥

परवर्गा[क्ष]रगुरवः प्रथमं प्राप्नुवन्त्यात्मनो वर्गं इ(मि)ति । यः उपर्यक्षरः स आत्मवर्गो(र्गं)प्रतिबद्धाक्षरं लभते । के ते प[र]वर्गाक्षराः ? ते उच्यंते । 'ख आ ध ह' इत्येवमाद्या ज्ञेयाः । अनुवलितशब्दः आलिंगितपर्यायः । [प० १५३,पा० १] खकारेण यदा ककार आलिंग्यते तदा आलिंगितत्वात् एका संख्या ह्रति(ह्रसित)त्वात् ककारः चकारत्वं प्राप्नोति । चवर्गप्रतिबद्धाक्षरं च लभते । घकारः खकारे[ण?अ]भिधूमयि(य)त्यभिधूमितत्वात् द्वे संख्ये ह्रसि[त]त्वा[त्] स ध्य(घ)कारः खकारमापद्यते । खकारप्रतिबद्धाक्षरं च प्राप्नोत्येवमन्येऽपि । ढ(ङ)कारो जकारेणाग्रतो[व]स्थितेन [प० १५३, पा० २] दह्यते । दग्धे सति संख्यात्(...?)पञ्चखकारं लभते । खकारप्रतिबद्धाक्षरं च प्राप्नोत्येवमन्येऽपि आलिंगिताऽभिधूमितदग्धाः स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं प्राप्नुवंति पूर्वा(र्व)पर्यायेणेति । आलिंगिताभिधूमितदग्धं च दर्शयन्ति ॥ २६१ ॥

॥ परवर्गसंयोगकरणं समाप्तम् ॥

सीहाविलोविउ(वलोइओ) पुणो, दुआदि कमसो बहुविया(हा?)देसो ।
संयो(जो)गवियप्पेणं, पावंति [य] लोयणेग्गं वा ॥ २६२ ॥

'अ इ ए ओ' इत्येतेह(र्वे)स्वरे(रै)श्चतुर्भिर्युक्ताः 'क च ट त प य श'द्याः पंच वर्गाः सिंहावलोकितन्यायेन आत्मनो [प० १५४,पा० १] यः उपर्यक्षरोऽनन्तरं स(तं) प्राप्नुवन्ति । 'आ ई ए

औ' इत्येतेदी(तैर्दी)र्घस्वरैश्चतुर्भिर्युक्ताः 'क च ट त प य शा' द्याः पंच वर्गा गजविलुलितन्यायेन आत्मनोय(ऽध)स्ताद्यः अक्षरोऽनन्तरः तं प्राप्नुवन्ति। निदर्शनं च—ककारो ह्रस्वस्वरयुक्तः अकारं प्राप्नोति। चकारोऽपि ककारं प्राप्नोति। एवं सर्वत्र सिंहावलोकितन्यायेन द्रष्टव्यम्। दीर्घस्वरयुक्तः ककारश्चकारं प्राप्नोति। चकारो दीर्घस्वरयुक्तः टकारं प्राप्नोति। टकारोऽपि [तकारं प्राप्नोति।] तकारोप्य(ऽपि)[पकारं] प्राप्नोत्येवं पंचवर्गप्रतिबद्धाक्षरा [प० १५४,पा० २] गजविलुलितन्यायेन द्रष्टव्य(व्या) इति ॥ २६२ ॥

पत्तो वि परं ठाणं, आइल्लं यं पुणो पलोएइ।
सिंहावलोइकरणं, एयारसमं मुणेयव्वं ॥ २६३ ॥

प्राप्नोति(प्तोऽपि) परं स्थानं तस्मात्परस्थानात् पूर्वं यस्मादालोकयति तथाभिहितं सिंहावलोकितकरणं एकादशमं भवति। सिंहश्चातिक्रान्तं पश्यतीति ॥ २६३ ॥

॥ सिंहावलोकितकरणं समाप्तम् ॥ [प० १५५,पा० १]

लोएइ पुव्वभणियं, करणो गयविलुलिओ महा भणिओ।
सूरकरविपर(पवि?)द्धो, गउ व्व सरपाणियं सरए ॥ २६४ ॥

लोलयति पूर्वोक्तं गजविलुलितमहाकरणोऽमिमं अक्षरं पश्यति स्व(सू)रकराहतो गज इव सरसिकालं(शरत्काले?) इव अमिममक्षरं पश्यति। लोलयत्यन्विपतीति वाक्यार्थः ॥ २६४ ॥

चत्तारि मूलवत्थुणि, वहं(हवं)ति म(ग)यविलुलियस्स करणस्स।
सरवंजणेण [प० १५५,पा० २] कमसो, सवग्ग-परवग्गजोए य ॥ २६५ ॥

चत्वारि मूलवस्तूनि भवन्ति गजविलुलितस्य करण[स्य]। स्वरवस्तु, व्यञ्जनवस्तु। व्यञ्जनान्यक्षराणि। स्ववर्गसंयोगवस्तु, परवर्गसंयोग[व]स्त्विति ॥ २६५ ॥

तत्थ सरवत्थु तिविहो, संकड-वियडा य मीसया चेव।
पढमाण त्रिवि(ति)य तहि(इ?)या, चरिमाणं आदिमा पक्खा ॥ २६६ ॥

तत्र स्वरवस्तु त्रिविधः। संकटं, [प० १५६,पा० १] विकटं, संकटविकटं चेति। प्रथमाः 'क च ट त प य शा'स्ते(द्वि)तीयानां 'ख छ ठ थ फ र षा'णामुपरिगतैः संयोगः। 'ग ज ड द ब ल सा' 'घ झ ढ ध भ व हा'नामुपरिगतेस्त(तैश्च)संयोगः। चरिमा 'ङ ञ ण न मा'स्तैः सर्वेषामेवाक्षराणां उपरिगतैः संयोगश्चेति सूत्रम् ॥ अथवाऽस्या गाथाया अन्यथा व्याख्या कृ(क्रि)यते—"तत्थ सरवत्थु[प० १५६,पा० २] तिविहो" इति। संकटाः 'अ इ ए उ अं'। विकटाः 'आ ई ऊ अः'। संकट-विकटाः 'ओ ऐ औ'। पंचवर्गीयो(या) वर्गा अपि। प्रथम-तृतीयौ संकटौ। द्वितीय-चतुर्थौ विकटौ। पंचमः संकट-विकट इति ॥ 'पढमा विदियाण चरिमा' इत्यत्र स्वरेषु प्रथम-द्वितीयौ 'अ आ', चरिमौ 'अं अः'। एषां तुल्यता। कथं? अकारस्य अनुस्वारः सपक्षत्वात् संकट एव भवति। अकार-विसर्जनीयौ द्वादशमः स्वपक्षः, अतो विकटोऽयम्। सपक्षता परस्परं मैत्री-भाव इति ॥ २६६ ॥

आइल्लाणं दोण्हं, सव्वे वि सरा हवंति सरिपक्खा । [प० १५७, पा० १]
पंचम-चउत्थ-णवमा, होइं(हों)ति इकारस्स सरपक्खा ॥ २६७ ॥

आद्यौ द्वौ स्वरौ 'अ आ' तयोः सर्वे स्वराः भवंति मित्राणि । पंचम उकारः, चतुर्थ ईकारः, नवम ओकारः । इत्येते त्रय इकारस्य मित्राणि ॥ २६७ ॥

अट्ठम-दसमा दोण्णि वि, एते सत्तमसरस्स सरिपक्खा ।
एकारस-बारसमा, छट्ठो हवंति उकारसरिपक्खो(क्खा) ॥ २६८ ॥

अष्टम ऐकारः, दशम औकारः । इत्येते द्वौ सप्तमस्वरस्य एकारस्य मित्राणि । एकादशम-स्वर['अं', द्वादशमस्वर] 'अः' षष्ठस्वर ओ(ऊ)कारः । एते त्रय(त्र) उकारस्य मित्राणि ।

ऐकारौकाराणं, दुविहा [प० १५७, पा० २] दिट्ठी उ होइ नायव्वा ।
जइ उत्तराणुवलिया, लहंति तो संकडा एदे ॥ २६९ ॥

ऐकारस्य औकारस्य च द्विविधा संज्ञा संकट(टा) विकटा चेति । प्रयोजनमुपरिष्टाद्वक्ष्यति । 'अ इ ए उ' इत्येते स्वराश्चत्वारः संकटसंज्ञाः । एतैरुप[रि]गतैः 'क च ट त प य श'याः पंचवर्गाक्षराः संकटसंज्ञा भवंति । एतैरेव संकटस्वरै[प० १५८, पा० १]र्युक्तानां अक्षराणां विद्यमानाभिघाते शोधिते सति योऽक्षर उत्पद्यति संकटविधिना लभ्यत इति संकट-संज्ञा ॥ २६९ ॥

अधरबलेण य वियडा, उत्तरअहरेण मिस्सया होंति ।
अहरुत्तरेण वि(?)सेसं, लक्खेज्ज बलाबलविसेसं ॥ २७० ॥

'आ ई औ' इत्येते त्रयो विकटसंज्ञाः । एतैर्युक्ताः 'क च ट त प य श'याः पंच [प० १५८, पा० २]वर्गाः(र्गाः?) संकटसंज्ञा भवन्ति । एतैरेव विकटस्वरैर्युक्तानां अक्षराणां विद्यमानाभिघाते शोधिते सति योऽक्षरः प्रश्ने आकारयुक्तः स आलिंगितत्वात्स्वरसंख्यया द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । यथा ककार आकारेणालिंगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । (†यथा ककार आकारेणालिंगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोतीति ।) [प० १५९, पा० १] तस्मिन्नप्यधराक्षरो(रा)नुवलितत्वादधराक्षरम् । स एव ककार इकारेणाभिधूमितो टवर्गमिश्रांतस्वरसंख्यया पवर्गं प्राप्नोति । तस्मिन्नप्यधरानुवलितत्वादधराक्षरम् । स एव ककार उकारयुक्तेन दह्यते । दग्धः स वर्गे मिश्रांतस्वरसंख्यया तवर्गं प्राप्नोति । यवर्गे उत्तरानुवलितत्वादुत्तराक्षरम् । एभिः स्वरैस्त(स्त्रि)भिरन्येऽप्य[प० १५९, पा० २]क्षराः पूर्वोक्तन्यायेन द्रष्टव्याः । 'ऊ ऐ औ' इत्येते त्रयः संकट-विकटसंज्ञाः । एतैर्युक्ताः पूर्ववर्गा[याः] पंच संकटविकट-संज्ञा भवन्ति । एतैः संकटविकटैयु(र्यु)क्तानां अक्षराणां अभिघाते शोधिते सति संकट-विकट-प्रकारेण योऽन्योऽक्षरो लभ्यते स संकट-विकटसंज्ञः । आलिंगिताभिधूमितदग्ध-लक्षणवर्गप्राप्तिश्च पूर्वोभिद्द(हि?)ता । लक्षयेत् बलाबलविशेषमिति । येऽक्षरा आलिंग्यन्तेऽभिधूम्यन्ते दह्यन्ते वा तेषाम[प० १६०, पा० १]भिघातशुद्धानां या(यः) संख्याधिको भवति स बलीयान् तेनादेशः कार्यः ॥ २७० ॥

---

† लेखकप्रमादात् आदर्शे द्विरुक्तः पाठोऽयम् ।

जो य इकारो(रे) गमओ, इ(ई)कारम्मि वि वियाण सो चेव ।
जो ए(य उ?)कारे गमओ, क(ऊ)कारे हवइ सो चेव ॥ २७१ ॥

इकारस्य ईकारस्य च द्वयोरस्ति प्रीतिस्तद्बहुले प्रश्ने 'प्रीतिर्मे भविष्यतीति ?' पृच्छन्तो-(तो)ऽस्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् । ए(उ)कारस्य [ऊकारस्य] च द्वयोरस्ति प्रीतिस्तद्बहुले प्रश्ने 'प्रीतिरनेन सह मे भविष्यतीति ?' चिन्ता(न्त)यतोऽस्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् ॥ २७१ ॥ [प० १६०, पा० २] ।

ऊकारे जं वुत्तं, छट्ठे एयारसे य बारसमे ।
होइ सरे तं सव्वं, सव्वत्थ बलाबलविसेसो ॥ २७२ ॥

उकारस्य ऊकारेण अकारेण च सानुस्वारेण सविसर्गेण च सह प्रीतिः । उकाराधिके प्रश्ने एषां स्वराणामन्यतमे दृष्टे प्रीतिं पृच्छतोऽस्ति प्रीतिरिति वाच्यम् । बलाबलविशेषश्च द्रष्टव्यः । अनभिहतो बलियां (बलीयान्) अभिहतो दुर्बलः । प्रथमो भेदः स्वरवस्तु ॥ २७२ ॥ ॥

इदानीं [प० १६१, पा० १] व्यंजनविभागकरणस्यादेशं कुर्वन्नाह–

जो चेव पुव्वभणिओ, संजोओ वंजणाण परि(य वि?)भाओ ।
सो चेव इहं सव्वो, गयविलुलियवत्थुए वीए ॥ २७३ ॥

य एव पूर्वोक्तव्यंजनानां स्वराणां च संयोगविभागलक्षणाक्षरोत्पत्तौ उपरिष्टाद् वर्णयस-(ष्य)ति गजविलुलितन्यायेन । एवं द्वितीयो भेद(दो) व्यंजनविभाग उक्तः ॥ २७३ ॥ ॥

लहति ककारो गरुओ, सवग्गयं(ग्गिय?) खकारसंजुओ च-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ ट-तवग्गं(ग्गे) ॥ (१)
लभति गकारो गरुओ, सवग्गयं(ग्गिय?) घकारसंजुओ प-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गं(ग्गे) ॥ (२)
लल(भ)ति चकारो गरुओ, [प० १६१, पा० २] सवग्गयं छकारसंजुओ ट-वग्गं । ॥
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ त-प-वग्गे ॥ (३)
लहइ जकारो गरुओ, ज(स)वग्गयं झकारसंजुओ [य]वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥ (४)
लहइ टकारो गरुओ, सवग्गयं ठकारसंजुओ त-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ प-य-वग्गे ॥ (५) ॥
लहइ डकारो गरुओ, सवग्गयं [प० १६२, पा० १] ढकारसंजुओ स-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥ (६)
लहइ चकारो गरुओ, सवग्गयं थकारसंजुओ प-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गे ॥ (७)
लहइ दकारो गरुओ, सवग्गयं धयारसंजुओ क-वग्गं । ॥
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥ (८)

आइल्लाणं दोण्हं, सव्वे वि सरा हवंति सरिपक्खा । [प० १५७,पा० १]
पंचम-चउत्थ-णवमा, होइं(हों)ति इकारस्स सरपक्खा ॥ २६७ ॥

आद्यौ द्वौ स्वरौ 'अ आ' तयोः सर्वे स्वराः भवंति मित्राणि । पंचम उकारः, चतुर्थ ईकारः, नवम ओकारः । इत्येते त्रय इकारस्य मित्राणि ॥ २६७ ॥

अट्ठम-दसमा दोण्णि वि, एते सत्तमसरस्स सरिपक्खा ।
एकारस-बारसमा, छट्ठो हवंति उकारसरिपक्खो(क्खा) ॥ २६८ ॥

अष्टम ऐकारः, दशम औकारः । इत्येते द्वौ सप्तमस्वरस्य एकारस्य मित्राणि । एकादशम-स्वर['अं', द्वादशमस्वर] 'अः' षष्ठस्वर ओ(ऊ)कारः । एते त्रय(य) उकारस्य मित्राणि ।

ऐकारौकाराणं, दुविहा [प० १५७,पा० २] दिट्ठी उ होइ नायव्वा ।
जइ उत्तराणुवलिया, लहंति तो संकडा एदे ॥ २६९ ॥

ऐकारस्य औकारस्य च द्विविधा संज्ञा संकट(टा) विकटा चेति । प्रयोजनमुपरिष्टाद्वक्ष्यति । 'अ इ ए उ' इत्येते स्वराश्चत्वारः संकटसंज्ञाः । एतैरुप[रि]गतैः 'क च ट त प य श'द्याः पंचवर्गाक्षराः संकटसंज्ञा भवंति । एतैरेव संकटस्वरै[प० १५८,पा० १]र्युक्तानां अक्षराणां विद्यमानाभिघाते शोधिते सति योऽक्षर उत्पद्यति संकटविधिना लभ्यत इति संकट-संज्ञा ॥ २६९ ॥

अधरबलेण य वियडा, उत्तरअहरेण मिस्सया होंति ।
अहरुत्तरेण वि(?)सेसं, लक्खेज्ज बलाबलविसेसं ॥ २७० ॥

'आ ई ओ' इत्येते त्रयो विकटसंज्ञाः । एतैर्युक्ताः 'क च ट त प य श'द्याः पंच [प० १५८, पा० २]वर्गाः(र्गाः?) संकटसंज्ञा भवन्ति । एतैरेव विकटस्वरैर्युक्तानां अक्षराणां विद्यमानाभिघाते शोधिते सति योऽक्षरः प्रश्ने आकारयुक्तः स आलिंगितत्वात्स्वरसंख्यया द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । यथा ककार आकारेणालिंगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । (†यथा ककार आकारेणालिंगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोतीति ।) [प० १५९,पा० १] तस्मिनप्यधराक्षरो(रा)नुवलितत्वादधराक्षरम् । स एव ककार इकारेणाभिधूमितो टवर्गमिश्रांतस्वरसंख्यया पवर्गं प्राप्नोति । तस्मिन्नप्यधरानुवलितत्वादधराक्षरम् । स एव ककार उकारयुक्तेन दह्यते । दग्धः स वर्गो मिश्रांतस्वरसंख्यया तवर्गं प्राप्नोति । तवर्गो उत्तरानुवलितत्वादुत्तराक्षरम् । एभिः स्वरैस्त(स्त्रि)भिरन्येऽप्य[प० १५९, पा० २]क्षराः पूर्वोक्तन्यायेन द्रष्टव्याः । 'ऊ ऐ औ' इत्येते त्रयः संकट-विकटसंज्ञाः । एतैर्युक्ताः पूर्ववर्गी[याः] पंच संकटविकट-संज्ञा भवन्ति । एतैः संकटविकटेयु(र्यु)क्तानां अक्षराणां अभिघाते शोधिते सति संकट-विकट-प्रकारेण योऽन्योऽक्षरो लभ्यते स संकट-विकटसंज्ञः । आलिंगिताभिधूमितदग्ध-लक्षणवर्गप्राप्तिम्पूर्वाभिद(द्वि?)वा । लक्षयेत् बलाबलविशेषमिति । येऽक्षरा आलिंग्यन्तेऽभिधूम्यन्ते दह्यन्ते वा तेषाम[प० १६०, पा० १]भिघातशुद्धानां या(यः) संख्याधिको भवति स बलीयान् तेनादेशः कार्यः ॥ २७० ॥

† लेखकप्रमादात् आदर्शे द्विरुक्तः पाठोऽयम् ।

जो य इकारो(रे) गमओ, इ(ई)कारम्मि वि वियाण सो चेव ।
जो ए(य उ?)कारे गमओ, क(ऊ)कारे हवइ सो चेव ॥ २७१ ॥

इकारस्य ईकारस्य च द्वयोरस्ति प्रीतिस्तद्बहुले प्रश्ने 'प्रीतिर्मे भविष्यतीति ?' पृच्छन्तो-(तोऽ)स्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् । ए(उ)कारस्य [ऊकारस्य] च द्वयोरस्ति प्रीतिस्तद्बहुले प्रश्ने 'प्रीतिरनेन सह मे भविष्यतीति ?' चिन्ता(न्त)यतोऽस्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् ॥ २७१ ॥ [प० १६०, पा० २]

ऊकारे जं वुत्तं, छट्ठे एयारसे य बारसमे ।
होइ सरे तं सव्वं, सव्वत्थ बलाबलविसेसो ॥ २७२ ॥

उकारस्य ऊकारेण अकारेण च सानुस्वारेण सविसर्गेण च सह प्रीतिः । उकाराधिके प्रश्ने एषां स्वराणामन्यतमे दृष्टे प्रीतिं पृच्छतोऽस्ति प्रीतिरिति वाच्यम् । बलाबलविशेषश्च द्रष्टव्यः । अनभिहतो अलियां (बलीयान्) अभिहतो दुर्बलः । प्रथमो भेदः स्वरवस्तु ॥ २७२ ॥

इदानीं [प० १६१, पा० १] व्यंजनविभागकरणस्यादेशं कुर्वन्नाह—

जो चेव पुव्वभणिओ, संजोओ वंजणाण परि(य वि?)भाओ ।
सो चेव इहं सव्वो, गयविलुलियवत्थुए बीए ॥ २७३ ॥

य एव पूर्वोक्तव्यंजनानां स्वराणां च संयोगविभागस्तत्साक्षरोत्पत्तौ उपरिष्टाद् वर्णयिष्य-(ष्य)ति गजविलुलितन्यायेन । एवं द्वितीयो भेद(दो) व्यंजनविभाग उक्तः ॥ २७३ ॥

लहति ककारो गरुओ, सवग्गयं(ग्गिय?) खकारसंजुओ च-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ ट-तवग्गं(ग्गे) ॥ (१)
लभति गकारो गरुओ, सवग्गयं(ग्गिय?) घकारसंजुओ प-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गं(ग्गे) ॥ (२)
लल(भ)ति चकारो गरुओ, [प० १६१, पा० २] सवग्गयं छकारसंजुओ ट-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ त-प-वग्गे ॥ (३)
लहइ जकारो गरुओ, ज(स)वग्गयं झकारसंजुओ [य]वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥ (४)
लहइ टकारो गरुओ, सवग्गयं ठकारसंजुओ त-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ प-य-वग्गे ॥ (५)
लहइ डकारो गरुओ, सवग्गयं [प० १६२, पा० १] ढकारसंजुओ स-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥ (६)
लहइ चकारो गरुओ, सवग्गयं थकारसंजुओ प-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गे ॥ (७)
लहइ दकारो गरुओ, सवग्गयं धयारसंजुओ क-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥ (८)

लहइ पकारो गरुओ, सवग्गयं [प० १६२,पा० २] फकारसंजुओ य-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥ (९)
लभइ य(ब)कारो गरुओ, सवग्गयं ह(भ)यारसंजुओ स(च)-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ ट-त-वग्गे ॥ (१०)
लहइ प(य)कारो गरुओ, सवग्गयं रयारसंजुओ स-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥ (११)
लहइ लकारो गरुओ, सवग्गयं वयारसंजुओ ट-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ त-प-वग्गे ॥ (११)
लभइ स(श)कारो गरुओ, सवग्गयं स(प)कारसंजुओ क-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥ (१३)
लहइ सका[प० १६१,पा० १]रो गरुओ, सवग्गयं हकारसंजुओ त-वग्गं ।
अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ प-स(य)-वग्गे ॥ (१४)

चतुर्दशानामपि गाथानां स्ववर्गसंयोगवस्तुप्रदर्शकं प्रस्तारमुपदर्शयन्नाह—तिर्यक्चतुर्दश-गृहाणि, ऊर्ध्वं सप्त कृत्वा प्रथमा पंक्तिः । ख, क, क्ख, च, ङ्क, ट, त, ग्ग, ग, ग्घ, प, ञ्ज, य, स(श) ॥१॥ अस्याधस्तात्—ख, घ, च्छ, ट, ञ्ज, त, प, ज्ज, ज, ज्झ, य, ञ्ज, स(श) क ॥२॥ अस्याधः—ट्ट, ट, ड्ड, त, ण्ट, प, य, ड्ड, ड, ड्ढ, स(श), ण्ड, क, च ॥ ३ ॥ [प० १६१, पा० २] अस्याधस्तात्—त्त, त, त्थ, प, न्त, य, स(श), द्द, द, द्ध, क, न्द, च, ट ॥ ४ ॥ अस्याधः—प्प, प, प्फ, य, म्प, स(श), क, ब्ब, ब, ब्भ, च, म्ब(म्र), ट, त ॥ ५ ॥ अस्याधः—य्य, य, र्य, स(श), य्यँ, क, च, ल्ल, ल, ल्य, ट, लँ, त, प ॥ ६ ॥ अस्याधः—श्श, श, श्प, क, स(शँ), च, ट, स्स, स, स्ह, त, सँ, प, य ॥ ७ ॥ यथा श्रुतिरेवाक्षरलब्धिरिति ॥

[गाथाचतुर्दशकानुसारेण कोष्ठकमिदं स्थापितम्—]

ख	क	क्ख	च	ङ्क	ट	त	ग्ग	ग	ग्घ	प	ञ्ज	य	श
ख	घ	च्छ	ट	ञ्ज	त	प	ज्ज	ज	ज्झ	य	ञ्ज	श	क
ट्ट	ट	ड्ड	त	ण्ट	प	य	ड्ड	ड	ड्ढ	श	ण्ड	क	च
त्त	त	त्थ	प	न्त	य	श	द्द	द	द्ध	क	न्द	च	ट
प्प	प	प्फ	य	म्प	श	क	ब्ब	ब	ब्भ	च	म्ब	ट	त
य्य	य	र्य	श	य्यँ	क	च	ल्ल	ल	ल्य	ट	लँ	त	प
श्श	श	श्प	क	शँ	च	ट	स्स	स	स्ह	त	सँ	प	य

एवं तु सभावत्था, लहंति अह अणुवलाभिघाएणं ।
दिट्ठा पुव्वावरओ, लहंति तो णंतरं वग्गं ॥ २७४ ॥

एवं तु स्वभावत एव प्रस्तारेण लब्धिरुक्ता । प्रश्नाक्षराणामधरधातु(रानु?)वलितत्वाद्याक्षरं लक्षयेत् । उत्त[प० १६४, पा० १]रान(नु)वलितत्वाच्च आलिंगिताभिधूमितदग्धाच्च तमेवाक्षरं यथोक्तं यथा लक्षयेत् । पूर्व्या(र्वे?)क्रमेण पूर्वोक्ताभिघातसु(शु)द्धेन आलिंगितत्वादनन्तरं वर्गं लभते । अभिधूमितत्वात् द्वितीयवर्गम्, दग्धत्वात् तृतीयं वर्गं यथा प्राप्नुवंति तथा पूर्वोक्तम् । स्वरवर्गाक्षरसंयोगवशस्तु तृतीयम् ॥ २७४ ॥ इदानीं चतुर्थो भेदः–[प० १६४, पा० २]

परवग्गक्खरगरुया, अ(ज)त्तियमित्तेहि पण्ह आइल्ला ।
ते सव्वे पत्तेयं, पढमं पावंति संठाणं ॥ २७५ ॥

प्रश्नाक्षराणां मध्ये यावन्मात्राः परवर्गाक्षरगुरवो दृश्यन्ते तेषामुपरि अक्षरो यः स प्रत्येकं प्राप्नोत्यात्मनो वर्गम् । उत्तरानुवलितत्वात् उत्तरं, अधरानुवलितत्वादधरमिति ॥ २७५ ॥

सेसा सकायगरुया, सव्वे वि लहंति अप्पणो वग्गं ।
सेसाण वि एस कमो, सव(व्व)त्थ बलाबलविसेसो ॥ २७६ ॥

स्वकायगुरव(रवः) सर्वे [प० १६५, पा० १] यथा प्राप्नुवन्त्यात्मनो वर्गं तथा उक्तमेव । शेषाणामेष क्रमः । शेषग्रहणेनालिंगिताभिधूमितदग्ध(ग्धा) भण्यन्ते । ते यथा स्व[व]र्गं प्राप्नुवन्ति तथा पूर्वमेवोक्तम् । सर्वत्र बलाबलविशेषो द्रष्टव्यः । इत्यभिहन्वा बलीयानी(नि)ति ॥२७६॥

॥ चतुर्भेदं गजविलुलितं समाप्तम् ॥

पण्हाइमसंखाए, जाणिज्जा तंमि वग्ग एक्केक्कं ।
नामक्खरं तु लब्भइ, एवं से[से]सु वि कमेणं ॥ २७७ ॥

प्रश्नादिमस्याक्षरस्य याऽनवि(भि)हतस्य या संख्या तया नामा[प० १६५, पा० २]क्षरसंख्या ज्ञेया । स एवानभिहतः स्ववर्गाक्षरं लभते । एवं येऽपि तत्रावलिष्टा अभिहतास्तेऽपि स्ववर्गाक्षरं लभन्त एव ॥ २७७ ॥

जत्थऽट्ठगाइरित्ता, हवंति तत्थऽट्ठयं विसोहेत्ता ।
जं तत्थ हवइ सेसं, तं मिद्दा(?)णामक्खरवग्गे ॥ २७८ ॥

प्रश्नाक्षराणां निपतितानां यदा एभ्यो अक्षरेभ्योऽभि(ति)रिक्ता [अ]क्षरा भवन्ति तदा तेषां या संख्या साऽऽद्याक्षराष्टकमध्ये शोधयित्वा अष्टभिभा(र्भा)गमपहृत्य लब्धावसि(शि)ष्टाच्च द्वौ वर्गौ लभ्येते । [प० १६६, पा० १]कवर्गादिगणनया च तौ गण[यि]तव्यौ । उत्तराक्षरबहुले प्रश्ने उत्तराक्षरो लभ्यते । अधराक्षराधिके प्रश्ने अधराक्षर इति ॥ २७८ ॥

एवं तु सभावत्थे, कीरइ णामक्खराण उप्पत्ती ।
अणुवलिहा(या)भिहया वि य, पुव्वावरवग्ग एक्केक्कं ॥ २७९ ॥

ओष्ठा(ष्ठ्या)नां मध्येऽक्षरं लभते । ओष्ठा(ष्ठ्या)नामन्यतम आलिंगितः, [दन्त्यानां मध्येऽक्षरं लभते ?] दन्त्यानामन्यतम आलिंगितः मूर्द्धतालव्यानां मध्येऽक्षरं लभते । मूर्धतालव्याना-मन्यतम आलिंगितः तालव्यानां मध्ये[प० १७२,पा० २]ऽक्षरं लभते । उरस्यानामन्यतम आलिं-गितः मूर्धन्यानां मध्येऽक्षरं लभते ॥ २८९ ॥

पंचम-चउत्थयाणं, जीहामूलेहि होइ सह जोओ ।
तालव्वाणं जोगो, पढम-तइज्जेसु दोसुं पि ॥ २९० ॥

मूर्द्धन्यानामन्यतम अभिधूमितः मूर्द्धतालव्यानां मध्येऽक्षरं लभते । अनुनासिकानामन्य-तम अभिधूमितः दन्त्यानां मध्येऽक्षरं लभते । ओष्ठ्यानामन्यतम अभिधूमितः मूर्द्धतालव्यानां मध्ये[प० १७२,पा० १]ऽक्षरं लभते । दंत्यानामन्यतम अभिधूमितः तालव्यानां मध्येऽक्षरं लभते । मूर्द्धतालव्यानामन्यतमः अभिहतः जिह्वामूलीयानां मध्येऽक्षरं लभते । तालव्या अभिधूमिताः कंठ्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नुवन्ति । जिह्वामूलीया [अ]भिधूमिता उरस्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नुवन्ति । कंठ्यानामन्यतम अभिधूमित(तो) मूर्द्धन्यानां मध्येऽक्षरं लभते । उरस्यानामन्यतम अभिधूमित [प० १७१, पा० १]आनुनासिकानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । उत्तरा उत्तरमेव, अधरा त्व(स्त्व)धरमे-(वे)ति क्रममंगीकृत्य त्वा(असा ?)भिरुक्ता नु(न ?)गाथानुरूपमिति ॥ २९० ॥

बि-तिय-चउत्थेहि समं, संजोगो होइ मुद्धतालाणं ।
पंचम-चउत्थएणं, जोगो वग्गाण दन्तेहिं ॥ २९१ ॥

मूर्द्धन्यानामन्यतमो दग्धो दन्त्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । अनुनासिकानामन्यतमः [प० १७४,पा० १] दग्धो मूर्द्धन्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । ओष्ठ्यानामन्यतमो दग्धः तालव्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । दन्त्यानामन्यतमो दग्धः जिह्वामूलीयानां मध्येऽक्षरं लभते । मूर्द्धतालव्या-नामन्यतमो दग्धः कंठ्यानां मध्येऽक्षरं लभते । तालव्यानामन्यतमो दग्ध उरस्यानां मध्येऽक्षरं लभते । जिह्वामूलीयानामन्यतमो दग्धः [प० १७४,पा० २] मूर्द्धन्यानां मध्येऽक्षरं लभते । कंठ्या-नामन्यतमो दग्धः अनुनासिकानां मध्येऽक्षरं लभते । उरस्यानामन्यतमो दग्धः ओष्ठ्यानां मध्ये-ऽक्षरं लभते । उत्तराक्षरैरुत्तराणि लभ्यन्ते । अधराक्षरैरधा[धरा]क्षराणि[इति] क्रममंगीकृत्यो-क्तम् । न गा[था]नुरूपम् ॥ २९१ ॥

उद्धाणं पुण यो(जो)गो, पंचम-छट्ठेहि होइ वग्गेहिं ।
छट्ठेण सत्तमेणं, जोगो अणुणासियाणं च ॥ २९२ ॥

क्रममंगीकृत्य यदभिह(हि)तं तथैव व्याख्यानं अर्थतो गाथेयमिति न वृत्ता(विवृता) ॥२९२॥

सत्तट्ठमेहि दोसु वि, मुद्धणा(मुद्धण्णा?)णं [प० १७५,पा० १] तहेव सो यो(जो)गो ।
वग्गे वग्गे एवं, तिण्णि हु णामक्खरा पढमे ॥ २९३ ॥

आलिंगितत्वादेकमक्षरं लभते । अभिधूमितत्वाद् द्वितीयं, दग्धत्वात्तृतीयमक्षरमिति । एषा-याम(एषोऽ?)पि गाथार्थः व्याख्यातः । अतो न विवृत इति ॥ २९३ ॥

सो(सा)हाविहा य एवं, पयडीए पढमओ हवइ णामं ।
उत्तरमहरचउक्के, बलाबलविसेसओ विइए ॥ २९४ ॥

प्रश्नाक्षराणां मध्ये येऽक्षरा अनभिहतास्ते स्वभावतः प्राप्नुवन्ति आत्मवर्गस्तै(र्गं तै)र्नाम-निर्देशः कार्यः । उत्तरचतु[प० १७५,पा० २]तुष्क इति 'अ च त या' निर्दिश्यन्ते । अधरचतुष्क इति 'क च ट त प य श (क ट प श ?)ना' निर्देशः । 'अ च त या'नामन्यतमस्य 'क ट प श'नामन्यत-मोऽग्रतो यदा भवति तदा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं प्राप्नोति । यदा 'क ट प श'नामन्यतमस्य 'अ च त या'नामन्यतम(मा)क्षरोऽग्रतो भवति तदा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं लभते ॥ २९४ ॥

॥ स्ववर्गप्रकरणं समाप्तम् ॥

मूलस्सरा सवग्गे, एक्कं जुत्ता लभंति सट्ठाणो(णे) । [प० १७६,पा० १]
परवग्गक्खरगरुजुत्ता, बितियं च अणंतरं अहरं ॥ २९५ ॥

मूलस्वराः ? । के ते ? त्रयः । तैर्युक्ताः प्रश्ने 'ङ ञ ण न मा' 'र ल षाः' एषामेव मध्येऽन्य-तमाक्षरं लभते । मूलवर्गप्रतिबद्धत्वात् । पंचमवर्गः स्ववर्गो मूलस्वराणाम्, शेषाः परवर्गाश्चत्वारः, तैर्युक्तास्त एव मूलस्वराः । येनाक्षरेण युक्तस्तस्याक्षरस्यानंतरो यो वर्गोऽधस्तद्वर्गप्रतिबद्धमेवाक्षरं प्राप्नुवंति ॥ २९५ ॥

उत्तरे(र)वग्गे एक्कं, बीयं पुण होइ जत्थ संजुत्ता ।
अहरंमि लभे तइयं, दुविहा दिट्ठी उ आकारे ॥ २९६ ॥ [प० १७६,पा० २]

दृष्टिप्रयोगसंयुक्तेन असंयुक्तेन च आकारेण एषमुपरिप्रयोगेष्वपि अक्षरलब्धि[ः] द्विधा भवतीति । उत्तरैर्वर्गैः 'क च ट त प य शाः, ग ज ड द ब ल सा' अ । एषामन्यतमाक्षरस्योपरिगते मूलस्वर अनंतरमधोवर्गं प्राप्नोति । उदाहरणम्—चकारस्योपरिगतो मूलस्वरः चवर्गं प्राप्नोति । चकारस्योपरिगतः मूलस्वरः [प० १७७,पा० १] च(ट ?)वर्गं प्राप्नोति । टवर्गस्योपरिगतो मूलस्वरः तवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्याः । एषामेव प्रथम-तृतीय-वर्गाक्षराणां प्रश्नायां यदग्रतो मूलस्वरोऽसंयुक्तो यस्याग्रतो व्यवस्थितस्तस्यैवाक्षरस्य पूर्वस्य संबंधिवर्गं प्राप्नोति । एवं द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराणां अग्रतो(तः) स्थिता मूलस्वरा असंयुक्तास्तृतीयव[प० १७७, पा० २]र्गमवः प्राप्नुवंति । यथा तकारस्याग्रतो व्य(व्य)वस्थितो मूलस्वर[ः] टवर्गं प्राप्नोति । छकारस्याग्रतो व्यवस्थितो मूलस्वर द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । आकाराव(द? क)कार-स्योपरिगत आकारः तस्याधोऽनंतरं द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्य द्वितीयस्य वर्गस्याधराक्षरमनंतरं लभते । यथा ककारस्योप[प० १७८,पा० १]रिगतः अकारश्चवर्गं प्राप्नोति । चवर्गेऽप्यधराक्षरं प्राप्नोति । एवं चकारस्योपरिगतः आकारः टवर्गं लभते । अत्राप्यधराक्षरम् । एवमन्यत्रापि । एवं ककारस्योपरिगतः स्थितः अकारः चकारमेव लभ्य(म)ते । तथा अधराक्षरोपरिगत स प मा(आ ?)कारोग(ऽ)नंतरं द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्या(स्य) द्वितीयवर्गानंतरमेवाधराक्षरं [प० १७८,पा० २]प्राप्नोति । एवमनंतरोऽप्यसंयुक्तः । उदाहरणं यथा—पकारस्योपरिगत आकारः ककारवर्गेऽप्यधराक्षरं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ २९६ ॥

एवत्तु(न्तु) अहरवग्गे, एक्कं बितियं तु जत्थ संजुत्ता ।
धातुस्सराण एवं, दुविहा दिट्ठी उ पयडीए ॥ २९७ ॥

द्वितीय-चतुर्थवर्गयोरधरयोर्ये अक्षरा धातुस्वरयुक्तास्ते अधोवर्गं द्वितीयानंतरं द्वितीयवर्गं प्राप्नुयन्ति । यथा खकार उकारेण जकारेण वा युक्तः जकारं प्राप्नोत्येवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । तयोरेव धातुस्वरयोरन्यतरो यदाऽधराक्षराणां अमतो[प० १७९, पा० १]मयत्संयुक्तः, तदा तमेवाक्षरं प्राप्नोति । यथा खकारस्यामतो जकारदृष्टः खकारं लभते । द्विविधा दृष्टिरिति प्रयोग [उ]च्यते ॥ २९७ ॥

हस्सस(स्स)रा य भवे(सवग्गे?), एकं(क्कं) तु लभंति जत्थ संजुत्ता ।
बितीयवग्गे तग्ग(सव)ग्गं, लभति अहरेण पढमित्ते(ल्ले?) ॥ २९८ ॥

ह्रस्वस्वराश्चत्वारः 'अ इ ए उ'। 'क च ट त प य शा'नां 'ग ज ड द ब ल सा'नां चान्यतमाक्षरे[ण] युक्ताः स्ववर्गं फलं प्राप्नुवंति । यथा ककार एकारेण युक्तः ककारं प्राप्नोत्येवमन्येऽप्यक्षरा स्ववर्गं प्राप्नुवन्ति । संयुक्तासंयुक्तैस्तुल्या प्राप्तिः । द्वितीयवर्गाक्षराणां 'ख छ ठ थ फ र षा'णां अन्यतमा-[प० १७९, पा० २]क्षरो यथा(दा ?)न्यतमह्रस्वस्वरयुक्तः तदाधस्तृतीयवर्गं प्राप्नोति । यथा खकारः चतुर्थं 'अ इ ए उ' अन्यतमेन युक्तः तृतीयवर्गं प्राप्नोति । एवं यद(?)प्युत्तरानुवलितधातुचराक्षरं प्राप्नुयन्ति । 'फ ट' वर्गे च तृतीयम् । एवमन्यत्रापि ॥ २९८ ॥

॥ व्यंजनस्वरप्रकरणं समाप्तम् ॥

जीया(ह्वा)मूलियकंठाइसंजुओ लहइ तिण्णि उ हकारो ।
उत्तरप[य]डिचउक्के, एक्कं दो दोसु चरिमेसु ॥ २९९ ॥

'अ इ ए उ' इत्येते चत्वारः कंठ्याः । 'क ख ग घा' जिह्वामूलीयाश्चत्वारः । एषामन्यतमाक्षरो अन्यतरं कंठ्यस्वरयुक्तजिह्वामूली[प० १८०, पा० १]यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोत्युत्तराणां(तु) चलितत्वात् । उत्तर उत्तरप्रकृतिचतुष्कग्रहणेन 'अ च त या' उच्यन्ते । तेषां चतुर्णां अन्यतमोऽक्षरः, 'अं अः' एतौ चरिमौ अनयोरन्यतरेण युक्तस्तमेव युक्ताक्षरं लभते । यथा 'अं' अनेन युक्ते चकारे सति चकार एव लभ्यते । 'अः' अनेन युक्ते चकारो लभ्यते । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । 'लभइ तिण्णि उ हकारो' तृतीये वर्गे लभतीत्यर्थः जिह्वामूलीयैरिति ॥ २९९ ॥

एमेव सेसयासु वि, दोसु(सुं) दोसं(सुं) तु जासु संजोओ(जोगो) ।
पयडीसु तासु एसो, हवइ हकारस्स [प० १८०, पा० २]अहिलासो ॥ ३०० ॥

एवं 'क ट प शा'श्चत्वारः ककार-टकारावुत्तरौ द्वौ पकार-शकारावधरौ तेषामन्यतमाक्षरोऽन्य[त]मेन चरिमेण स्वरेण युक्तो येन युक्तः स चिर(चरि)मः तमेव(वा)क्षर लभते । सविसर्गो हकारः सानुस्वारो वा आत्मानमेव लभते स्वभावात् ॥ ३०० ॥

उत्तरपयडीसु एक्कं(गं), लहंति जासुं(सुं) च संजुया तासु ।
एक्केक्कमेव कंठा, उट्ठाणं उवरिमि(मे) जाव ॥ ३०१ ॥

विर्पयेन(पर्येण) तु यो(यौ)वर्गश्च(च)रिमौ 'अं अः' । ओष्ठ्यानां दंत्यानां मूर्द्धताळव्यानां वाऽन्यतमोऽक्षर उत्तरस्वराणां चतुर्णामन्यतमेन युक्तस्तमेवाक्षरं लभते । उत्तरस्वराः 'अ इ ए ओ' । [प० १८१, पा० १] ॥ ३०१ ॥

अहरासु लभे एकं, एकेकं चेव जासु जं जुत्तो ।
अहरपयडीसु चउसु वि, दंतादी जाव मुद्धाण्हा (मुद्धण्णा ?)॥ ३०२ ॥

दंत्यानामोष्ठ्यानामनुनासिकानां मूर्द्धन्यानां मध्येऽधराक्षरो वाऽधरस्वराः 'आ ई ऐ औ' एषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽधराक्षरोऽधराक्षरमेव लभते । उत्तरोऽप्येषां दंत्यादीनां मध्ये एतैरेवाधराधरस्वरैर्यदा युक्तो(क्ता)स्तदा अधराक्षरमेव लभन्ते(ते) ॥ ३०२ ॥

॥ स्वभावप्रकृतिस्समाप्ता ॥

पढमसरा आइल्ला, तिण्णि वि उट्ठा य हो(हों)ति पयडीओ ।
दोसुत्तरपयडीसुं, दोन्नि य सो अक्खरे लहइ ॥ ३०३ ॥

प्रथ[प० १८१, पा० २]मस्वरा आद्यास्त्रयः 'अ आ इ' ओष्ठ्याक्षरैः सार्द्धमेषां स्वराणां मध्ये अकार इकारश्च द्वावुत्तरौ अ(आ)कारोऽधरः । ओष्ठ्याक्षराणां उत्तरयोरन्यतरो यदा भवत्य- [१] मतः, तदा उत्तराक्षरं प्राप्नोति । एषां मध्ये ओष्ठ्याक्षराणामन्यतमस्यामतो दृष्ट आकारोऽधरस्तेषां मध्येऽधराक्षरमेव प्राप्नोति ॥ ३०३ ॥ [प० १८२, पा० १]

अका(उत्ती)रसर(रा ?)उ कंठा, दोण्णि वि चरिमा हवंति पयडीए ।
एवं एस विसग्गो, तिण्णि हु नामक्खरे लहइ ॥ ३०४ ॥

कंठ्या उत्तरस्वराः – 'अ इ ए ओ' चत्वारः । तेषामनुस्वारेण अकारेण सविसर्गेण च सह [२] प्रीतिः । एवमेष द्वि(त्रि)संख्यः अकारः द्वि(त्रि)नामाक्षरं प्राप्नोत्येतयो(यो)परिगाथया व्याख्यास्यति ॥ ३०४ ॥

अवस(धरु ?)त्तरासु एक्केक्कयं तु एकं च ख(ल ?)भइ मिस्सासु ।
पंचम-छट्ठा [प० १८२, पा० २] तह सत्तमा य मौ तइउ(?)पयडी ॥ ३०५ ॥

प्रश्ने यदा अधरवर्गौ द्वौ अधरौ द्वितीयवर्गाक्षराणां यदा प्रश्ने 'ख छ ठ थ फ र षाः' स्ववर्गा- [३] क्षराणां चोत्तरौ दृश्येते तदा तयोरन्तरोऽक्षरो लभ्यते । यथा खकारस्यामतः घकारोऽवस्थितः । एवमन्यथापि । तथा उत्तरेषु प्रथमवर्गाक्षराणां 'क च ट त प य शा'नां तृतीयवर्गाक्षराणां च 'ग ज ड द ब ल सा'नां यदा प्रश्ने द्वावक्षरावनंतरा वा द्वौ दृश्येते तदाऽनयोरेको लभ्यते । यथा ककारस्यामतो गकारः । एवमन्यत्रापि । एवं च अधरोत्तरं लभत इति । तथा एव मिश्रा स्थितिः । यदा प्रश्ने एकः उत्तरः आद्यः तस्यामतोऽधरोऽथवाऽपर आद्यः (तस्यामतोऽधरोऽथवाधर [४] आद्यः) तस्यामत उत्तरस्तदाभिपाते [प० १८३, पा० १] शुद्धे सति द्वयोरक्षरयोर्यो मध्यान् [स] लभ्यते एक एव । पंचम ङकारः, षष्ठ ऊकारः, सप्तम एकारः, इत्येतेषां त्रयाणां इकारेण सह प्रीतिकृति(प्रकृति)रिति प्रीतिरुच्यते ॥ ३०५ ॥

कंठाअ(ऽ)गुणासि उज्य(? ट्ठा), तिण्णि वि तइयस्स सो लहइ (।) ।
दोसुत्त[र]पयडीसुं, एकः अहरासु तह जाण ॥ ३०६ ॥

---

१ मूलादर्शे द्विवारं [illegible] पाठः । २ आदर्शे '[illegible]' इति पाठः ।

द्वितीय-चतुर्थवर्गयोरधरयोर्ये अक्षरा धातुस्वरयुक्तास्ते अधोवर्गं द्वितीयानंतरं द्वितीयवर्गं प्राप्नुवन्ति । यथा खकार उकारेण जकारेण वा युक्तः जकारं प्राप्नोत्येवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । तयोरेव धातुस्वरयोरन्यतरो यदाऽधराक्षराणां अमतो[प० १७९,पा० १]मधस्तसंयुक्तः, तदा तमेवाक्षरं प्राप्नोति । यथा खकारस्यामतो जकारदृष्टः खकारं लभते । द्विविधा दृष्टिरिति प्रयोग [उ]च्यते ॥ २९७ ॥

हस्ससस(स्स)रा य भवे(सवग्गे?), एकं(क्कं) तु लभंति जत्थ संजुत्ता ।
बितीयवग्गे तव(सव)ग्गं, लभति अहरेण पढमित्ते(ल्ले?) ॥ २९८ ॥

ह्रस्वस्वराश्चत्वारः 'अ इ ए उ' । 'क च ट त प य शा'नां 'ग ज ड द ब ल सा'नां चान्यतमाक्षरे-[ण] युक्ताः स्ववर्गं फलं प्राप्नुवंति । यथा ककार एकारेण युक्तः ककारं प्राप्नोत्येवमन्येऽप्यक्षरा स्ववर्गं प्राप्नुवन्ति । संयुक्तासंयुक्तैस्तुल्या प्राप्तिः । द्वितीयवर्गाक्षराणां 'ख छ ठ थ फ र पा'णां अन्यतमा-[प० १७९,पा० २]क्षरो यथा(दा ?)न्यतमह्रस्वस्वरयुक्तः तदाधस्तृतीयवर्गं प्राप्नोति । यथा खकारः चतुर्थ 'अ इ ए उ' अन्यतमेन युक्तः तृतीयवर्गं प्राप्नोति । एवं यद(?)प्युत्तरानुपलितत्वादुपराक्षरं प्राप्नुवन्ति । 'फ द' वर्गे च तृतीयम् । एवमन्यत्रापि ॥ २९८ ॥

॥ व्यंजनस्वरप्रकरणं समाप्तम् ॥

जीया(हा)मूलियकंठाइसंजुओ लहइ तिण्णि उ हकारो ।
उत्तरप[य]डिचउक्के, एकं दो दोसु चरिमेसु ॥ २९९ ॥

'अ इ ए उ' इत्येते चत्वारः कंठ्याः । 'क ख ग घा' जिह्वामूलीयाश्चत्वारः । एषामन्यतमा-क्षरो अन्यतर कंठ्यस्वरयुक्तजिह्वामूली[प० १८०,पा० १]यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोत्युत्तराणां(तु) बलित्वात् । उत्तरं उत्तरप्रकृतिचतुष्कग्रहणेन 'क च ग या' उच्यन्ते । तेषां चतुर्णां अन्यतमोऽक्षरः, 'अं अः' एतौ चरिमौ अनयोरन्यतरेण युक्तस्तमेव युक्ताक्षरं लभते । यथा 'अं' अनेन युक्ते चकारे सति चकार एव लभ्यते । 'अः' अनेन युक्ते चकारो लभ्यते । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । 'लभइ तिण्णि उ हकारो' तृतीये वर्गे लभतीत्यर्थः जिह्वामूलीयैरिति ॥ २९९ ॥

एमेव सेसयासु वि, दोसु(सुं) दोसं(सुं) तु जासु संज्जोज्जो(जोगो) ।
पयडीसु तासु एसो, हवइ हकारस्स [प० १८०,पा० २]अहिलासो ॥३००॥

एवं 'क ट प शा'श्चत्वारः ककार-टकारावुत्तरौ द्वौ पकार-शकारावधरौ तेषामन्यतमाक्षरो-ऽन्य[त]मेन चरिमेण स्वरेण युक्तो येन युक्तः स चिर(चरि)मः तमेव(वा)क्षर लभते । सविसर्गो हकारः सानुस्वारो वा आत्मानमेव लभते स्वभावात् ॥ ३०० ॥

उत्तरपयडीसु एकं(गं), लहंति जामुं(सुं) च संजुया तासु ।
एक्केक्कमेव कंठा, उद्घाणं उवरिमि(मे) जाव ॥ ३०१ ॥

विर्पयेन(पर्येण) तु यो(यौ)वर्गश्च(च)रिमौ 'अं अः' । ओष्ठ्यानां दंत्यानां मूर्द्धतालव्यानां वाऽन्यतमोऽक्षर उत्तरस्वराणां चतुर्णामन्यतमेन युक्तस्तमेवाक्षरं लभते । उत्तरस्वराः 'अ इ ए ओ' । [प० १८१,पा० १] ॥ ३०१ ॥

अहरासु लभे एक्कं, एक्केक्कं चेव जासु जं जुज्जो ।
अहरपयडीसु चउसु वि, दंतादी जाव सुद्धाण्हा (मुद्धण्णा ?)॥ ३०२ ॥

दंत्यानामोष्ठ्यानामनुनासिकानां मूर्द्धन्यानां मध्येऽधराक्षरो वाऽधरस्वराः 'आ ई ऐ औ' एषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽधराक्षरोऽधराक्षरमेव लभते । उत्तरोऽप्येषां दंत्यादीनां मध्ये एतैरेवाधराधरस्वरैर्यदा युक्तो(क्त)स्तदा अधराक्षरमेव लभन्ते(ते) ॥ ३०२ ॥

॥ स्वभावप्रकृतिस्समाप्ता ॥

पढमसरा आइल्ला, तिण्णि वि उड्डा य हो(हों)ति पयडीओ ।
वीसुत्तरपयडीसुं, दोन्नि य सो अक्खरे लहइ ॥ ३०३ ॥

प्रथ[प० १८१, पा० २]मस्वरा आद्यास्त्रयः 'अ आ इ' ओष्ठ्याक्षरैः सार्द्धमेषां स्वराणां मध्ये अकार इकारश्च द्वावुत्तरौ अ(आ)कारोऽधरः । ओष्ठ्याक्षराणां उत्तरयोरन्यतरो यदा भवत्यग्रतः, तदा उत्तराक्षरं प्राप्नोति । एषां मध्ये ओष्ठ्याक्षराणामन्यतमस्याग्रतो दृष्ट आकारोऽधरस्तेषां मध्येऽधराक्षरमेव प्राप्नोति ॥ ३०३ ॥ [प० १८२, पा० १]

अका(उत्त?)रसर(रा ?)उ कंठा, दोण्णि वि चरिमा हवंति पयडीए ।
एवं एस विसग्गो, तिण्णि हु नामक्खरे लहइ ॥ ३०४ ॥

कंठ्या उत्तरस्वराः – 'अ इ ए ओ' चत्वारः । तेषामनुस्वारेण अकारेण सविसर्गेण च सह प्रीतिः । एवमेष द(नि)संज्ञः अकारः द(नि)नामाक्षरं प्राप्नोतीत्येतयो(षो)परिगाथया व्याख्यास्यति ॥ ३०४ ॥

अवस(धरु ?)त्तरासु एक्केक्कयं तु एक्कं च ख(ल ?)भइ मिस्सासु ।
पंचम-छट्ठा [प० १८२, पा० २] तह सत्तमा य मो तइउ(?)पयडी ॥ ३०५॥

प्रश्ने यदा अधरवर्गौ द्वौ अधरौ द्वितीयवर्गाक्षराणां यदा प्रश्ने 'ख छ ठ थ फ र षाः' स्ववर्गाक्षराणां चांतरद्वौ दृश्येते तदा तयोरन्तरोऽक्षरो लभ्यते । यथा खकारस्याग्रतः घकारोऽग्रस्थितः । एवमन्यत्रापि । तथा उत्तरेषु प्रथमवर्गाक्षराणां 'क च ट त प य शा'ना तृतीयवर्गाक्षराणां च 'ग ज ड द ब ल सा'नां यदा प्रश्ने द्वावक्षरावनंतरा या द्वौ दृश्येते तदाऽनयोरेको लभ्यते । यथा ककारस्याग्रतो गकारः । एवमन्यत्रापि । एवं च अधरोत्तर लभत इति । उक्ता एव मिश्रा स्थितिः । यदा प्रश्ने एक उत्तरः आद्यः तस्याग्रतोऽधरोऽथवाऽधर आद्यः (तस्याग्रतोऽधरोऽथवाधर आद्यः) तस्याग्रत उत्तरस्तदाभिघाते [प० १८३, पा० १] शुद्धे सति द्वयोरक्षरयोर्मध्यात् [स] लभ्यते एक एव । पंचम उकारः, षष्ठ ऊकारः, सप्तम एकारः, इत्येतेषां त्रयाणां इकारेण सह प्रीतिकृति(प्रकृति)रिति प्रीतिरुच्यते ॥ ३०५ ॥

कंठाअ(ऽ)णुणासि उव्य(? ट्ठा), तिण्णि वि तइयस्स सो लहइ (?) ।
दोसुच[र]पयडीसुं, एवं अहरासु तह जाण ॥ ३०६ ॥

---

१ मूलादर्शे द्विवारं लिखितोऽयं पाठः । २ आदर्शे 'भणमाव मीयमा तइउ' इति पाठः ।

अकारस्य एकारस्य उकारस्य वा कंठ(ठ्य)स्य यत्राऽमतोऽनंतरं इकारो दृश्यते, तदा समेव पूर्वस्वरमवाप्नोति । अनुनासिकानां 'ङ ञ ण न मा'नां ओष्ठ्यानां 'फ य फ ब ना (पे फ ब भा)'नां च एषामन्यतमस्योपरिगत इकारस्तमेवाक्षरं लभते । प्रश्नोत्तरप्रकृतिरुक्ता । प्रकृतिशब्दो मैत्री-पर्यायः । 'एकं अधरासु जानीह(हि)' इत्येतदुपरिष्टा[त्] व्याख्यास्यति ॥ ३०६ ॥

ईका[प० १८३, पा० २]रस्स चउत्था, मुद्दहा(द्धण्णा ?) सेसया जहा तइए ।
अक्खरलंभो जो उत्तरासु सो चेव अहरासु ॥ ३०७ ॥

एकारस्य मूर्द्धन्या(न्य)स्यामतः स्थित ईकारे(र) ऐकारं लभते । औकारो(रस्य ?)मूर्द्धन्यस्यामतोऽव-स्थित ईकार औकारमेव प्राप्नोति । 'र ल षा'नां(णां) मूर्द्धन्यानामन्यतमस्योपरिगतः ईकारस्तमेवाक्षरं प्राप्नोति । ईकारस्य यथाऽक्षरलाभ उक्तः,[प० १८४, पा० १]एवं इकारस्याप्यधरप्रकृतेरुक्तः ॥ ३०७ ॥

जा ईकारे पयडी, चउरो सा चेव होइ उ(य ?) उकारे ।
अक्खरलंभो जो पंचमस्स सो चेव एयस्स ॥ ३०८ ॥

चतुर्थस्य ईकारस्य उकारेण सह प्रीतिः । प्रीतिशब्दः स्वभावपर्यायः । 'ई ऐ औ' इत्येतेषां य(त्र)याणां अन्यतमस्यामतोऽनंतरस्थित उकारस्तमेव पूर्वस्वरं लभते । 'र [ल ?]षा' णामन्यतम-स्या(स्य) यस्याधो[प० १८४, पा० २]युक्त उकारस्तमेव लभते । पंचम ऊकारो यथाक्षरं लभते इकारोऽपि तथैव प्राप्नोति ॥ ३०८ ॥

जीहामूलियकंठा, तालव्वाणुणासिया य एकारे ।
अक्खरलंभो तइए, जो वि य सो चेव इहयं पि ॥ ३०९ ॥

जिह्वामूलीयानां कंठ्यानां तालव्यानामनुनासिकानां चान्यतमाक्षर एकारेण युक्तः उपरि-गतेन तमेवाक्षरं एकारः प्राप्नोति । कंठा(ठ्या)नामपि स्वराणां अन्यतमस्यानंतरममतोऽवस्थित एकारस्तमेव पूर्वस्वरं लभते । एकारेण योऽक्षरलाभः स उक्तः । ऐकारेण वक्ष्यति ॥ ३०९ ॥

अधर(उर)कंठोट्ठा दंता, मुद्धं(द्धण्ण)णुणासिया[प० १८५, पा० १]य अट्ठमए ।
अक्खरलंभं इच्छं, तं पि य अहराहरे लहइ ॥ ३१० ॥

उरस्यानां कंठ्यानां ओष्ठ्यानां दंत्यानां मूर्द्धन्याना अनुनासिकानां चान्यतमाधर(रा)क्षर ऐकारेण युक्तोऽधराक्षरं प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्येषां मध्ये ऐकारेण युक्तोऽधराक्षरमेव प्राप्नोति । एषां मध्ये ये स्वराते(स्ते)षामन्यतमस्यामता(तः) स्थित ऐकारस्तमेव स्वरमाप्नोति ॥ ३१० ॥

जीहामूलियकंठा, उट्ठा अणुणासिया य ऐकारे ।
अक्खरलंभं एसो, लहइ तइज्जस्स गमणेणं ॥ ३११ ॥

जिह्वामूलीया; 'च छ ज झाः' । कंठ्या 'अ इ उ ए' । ओष्ठ्या [प० १८५, पा० २]'ऐ फ ब मा:' । अनुनासिका 'ङ ञ ण न माः' । एषामन्यतमस्य यस्योपरिगत ऐकारस्तमेवाक्षरं लभते । स्वराणा-मपि यस्यामतोऽनंतरमवस्थितस्तमेव पूर्वस्वरं लभते । यथा तृतीय इकारो ऊकारमवाप्नोति । उकारोऽपि तथैवेति ॥ ३११ ॥

मुद्धणुणासियकंठा, तालव्वा मुद्धतालदंतोट्ठा ।
दस[स]सरे पयडीओ,[प० १८६, पा० १] अक्खरलंभं जहम्मा(ह्रम?)ए॥३१२॥

मूर्द्धन्यानुनासिककंठ(ण्ठ्य)तालव्य-दंतोष्ठाः(त्यौष्ठ्याः) । तेषामन्यतमोऽधराक्षरस्योपरिगतः दशमस्वरस्तमेवाक्षरं लभते । उत्तराक्षरोपरिगतः खकारोऽधराक्षरमेव लभते । एतत्प्रतिबद्धस्वराणां 'आ ई ऐ' अन्यतमस्याग्रतो तंच(ऽनन्त)रमवस्थित औकार[ः] पूर्वस्वरं लभते । यथाष्टम[प० १८६, पा० २] ऐकारोऽक्षरं लभते । एवमौकारोऽपीति ॥ ३१२ ॥

मोत्तुं पंचमपयडी, एकारसमस्स सेसया अट्ठ ।
एक्केक्कं दंतोट्ठे, मुद्धण्णे अक्खरे एक्कं ॥ ३१३ ॥

उरस्याः कंठ्याः जिह्वामूलीयाः तालव्या मूर्द्धतालव्या दंत्या औष्ठ्या मूर्द्धन्याः । एषां अष्टानां अन्यतमोऽक्षर एकादशमः(शे?)स्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं लभते । (एषामष्टानां यः [प० १८७, पा० १] एकादशस्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं लभते ।) एषामष्टानां ॥ एकादशस्वरेण युक्त स एव लभ्यत इति ॥ ३१३ ॥

जो हका(क्का)रे म(ग)मओ, पुह(ड्ड)चो सो इहं विसग्गंमि ।
एयस्स णविर(वरि?)पयडी, संखा वि य तच्चियं चेव ॥ ३१४ ॥

अकारः सानुस्वारः यथा ह्र(?)कारं प्राप्नुयन्ति(प्राप्नोति) । एवं ह्कार[ः] सविसर्गः हकारमेव प्राप्नोति । द्वादशानां [प० १८७, पा० २] स्वराणां यस्तु (यस्तु?)भावः स वर्णितः । प्रकृतिशब्दः स्वभावपर्याय इति ॥ ३१४ ॥ समाप्त ॥

अणभिनगगय(हते य अ?)यारे, अ ज ख ट च त था वाय(?) एकारे ।
अभिघाइ ························ [1]अट्ठमे पंचमंमि ॥ ३१५ ॥

अकारेण क्ष सा म ह्रा व ट(?)ककारस्यत(स्याग)तो व्यवस्थितेन कफार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते व(च)कारस्याग्रतः स्थिते चकार एव लभ्यते । आकारे अनभिहतं(ते) टकारस्याग्रतः स्थिते टकार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते तकारस्याग्रतः स्थिते तकार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते यकारस्याग्रतः स्थिते [प० १८८, पा० १] यकार एव लभ्यते । एकारेण युक्ते खकारो(रे) ककारो लभ्यते । एकारेण युक्ते छकारे च(च)कारो लभ्यते । एकारयुक्ते ठकारे टकारो लभ्यते । थकारेण युक्ते थकारे तकारो लभ्यते । एकारेण युक्ते रेफे यकारो लभ्यते । अष्टमस्य ऐकार[स्य पकार]स्येव संयोगफलमुक्तम् ॥ ३१५ ॥

अणभिहते आकारे, ख छ ज झ त ह अभिहयंति दो चरिमा ।
ठ थ ट त ईकारंमि, उ फ र प य चउरो [अ?]आरंमि ॥ ३१६ ॥

खकारस्याग्रतः स्थितेन अनभिहतेन अ(आ)कारेण खकारो लभ्यते । छकारस्याग्रतः स्थितेन अनभिहतेना[प० १८८, पा० २]कारेण छकारो लभ्यते । जकारः सानुस्वारः जकारमेव लभ्य(म)ते । (छकारस्याग्रतः स्थितेन अनभिहतेनाकारेण छकारो लभ्यते । जकारः सानुस्वारः जकारमेव

1 [ ] चिह्नितः पाठ एव लेखकप्रमादात् । [1] आदर्शेऽत्र ५–६ अक्षरपरिमिता पङ्क्तिः शून्याक्षरा विद्यते ।

लभ्यते†) झकारः सविसर्गो झकार एव लभ्यते। ट(ठ?)कार इकारयुक्तो टकारं लभते। थकार ईकारयुक्तः थकारमेव प्राप्नोति। फकार उकारयुक्तः पकारं लभते। रेफ उकारेण युक्तः यकारं लभते॥ ३१६॥ [प० १८९, पा० १]

जह पढम-सत्तमाणं, तइज(य)णवमाण तह य सट्ठाणे।
पढम-तइयाणुणासिय, घ झा य छट्ठंमि अणभिहते॥ ३१७॥

गकारस्यामतोऽनंतरमवस्थितः अनभिहत इकारो गकारमेव लभते। जकारस्यामतोऽनंतरमवस्थितः अनभिहत इकारो जकारमेव लभते। डकारस्यामतोऽनंतरमवस्थित अनभिहत इकारो डकारमेव लभते। दकारस्यामतोऽनंतरमवस्थितः [प० १८९, पा० २] अनभिहत इकारो दकारमेव प्राप्नोति। प(ब?)कारस्यामतोऽनंतरमवस्थितो(तः) इकारो(रः) प(ब?)कारमेव लभते। लकारस्यामतोऽनंतरमवस्थितेन अनभिहत इकारो[लकार]मेव लभते। सकारस्यामतो वाऽनंतरमवस्थितेन [अनभिहतः?] इकारः सकारमवाप्नोति। टकार उ(ओ)कारसंयुक्तः कोकारं लभते। छकारः ओकारसंयुक्तः[प० १९०, पा० १]चोकारं लभते। ठकार ओकारसंयुक्तः टोकारं लभते। थकार ओकारसंयुक्तोः [तो]कारं लभते। फकार ओकारसंयुक्तः पोकारं लभते। रेफ ओकारसंयुक्तः योकारं लभते। षकार ओकारसंयुक्तः स(सो)कारं लभते। षष्ठ औकारेना(णा)भिहतः घकारस्यामतोऽनंतरमवस्थिते घकारमेव लभते। उकारो[प० १९०, पा० २]ऽनभिहतो झकारस्यामतोऽनंतरमवस्थितः झकारमेव लभते। झकारोऽनभिहत अकारस्यामतः स्थितः अकारं लभते। औकारोऽनभिहत इकारस्यामतः स्थितः इकारं लभते। उकारोऽनभिहतः सानुस्वारस्याकारो(र)स्यामतोऽनंतरमवस्थितः अनुस्वारमेव अंकारं लभते। यथा पूर्वगाथया प्रथमस्य अकारस्य, सप्तमस्य च एकारस्य प्रयोग उक्तः, तथा तृतीयस्य इकारस्य, नवमस्य ओकारस्य प्रयोगो वर्णितः पश्चार्द्धस्यापि गाथान्तरेणार्थः॥ ३१७॥

अभिघाइएसु छट्ठे, हवइ हयारो हु अट्ठमो णवमो। [प० १९१, पा० १]
ड ढ चतु तइयऽणुणासा, दसमसरे तिण्णि ऊ भवमा॥ ३१८॥

उकारोऽग्रतोऽनंतरमवस्थितेन ओकारो(रेण)भिहतो हकारं प्राप्नोति। मकारस्याग्रतोऽनंतरमवस्थितो णकारः चतुर्थचकारं प्राप्नोति। टकारो दशमस्वरेण युक्तस्तृतीयं ष(छ?)कारं प्राप्नोति। 'भवमा'शब्द एकान्तपर्याय[ः]॥ ३१८॥

पढम-तइयाणुणासा, घ झा य दोण्हं पि अंतिमसराणं।
वावा(बावी)सइमो करणो, णामेण य(?) हयमोहिओ एस॥ ३१९॥

प्रथमो टकारः अनुस्वारेण अकारेण युक्तो डकारं प्राप्नोति। डकारः सविसर्गः डकारं लभते। तृतीयो णकारः सानुस्वारो[प० १९१, पा० २]णकारं लभते। णकारः सविसर्गः णकारमेव लभते। घकारः सानुस्वारः घकारं प्राप्नोति। उ(झ)कारः सविसर्गः झकारमेव लभते। झकारः सानुस्वारः झकारं प्राप्नोति॥ ३१९॥

॥ द्वाविंशतिकरणं समाप्तं। अश्वमोहितं नाम समाप्तम्॥

---

† एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितोऽतः पुनरुक्तः।

'उत्तरसरसंजुत्तो, जइ उत्तरवंजणो य दीसेज्जा ।
पावइ य पढमवग्गं, अहरस्सरसंजुओ तइयं ॥ ३२० ॥

उत्तराः के ? 'अ इ ए उ' इत्येतेषां चतुर्णामन्यतमेन युक्त[:] प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराणां क च ट त प य शा नां, ग ज ड द ब ल सा नां अन्य[प० १९२,पा० १]तमोऽक्षर आत्मीयं वर्गं लभते। यथा 'कि' क च ग ग घा नां मध्येऽक्षरं प्राप्नोत्युत्तरानुवलितत्वात् उत्तराक्षरम् । एवं सर्वत्र । अधर-स्वराः के ? 'आ ई ऐ औ' । एषां चतुर्णामन्यतमेन स्वरेण युक्तः तेषां प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराणां अन्यतमाक्षरं तृतीयं वर्गं प्राप्नुवन्ति(प्नोति) । यथा 'की' ट ठ ड ढा नां तृतीयवर्गाक्षराणां मध्ये ढकाराक्षरं प्राप्नोति ॥ ३२० ॥

उत्तरसरसंजुत्तो, पंचमवग्गं तु पावए अहरो ।
अहरस्सरसंजुत्तो, सत्तमं पावए अहरो ॥ ३२१ ॥

उत्तरस्वराः के ? 'अ इ ए उ' । एतेषां [प० १९२,पा० २]चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽधराणां ख छ ठ थ फ र षा णां, घ झ ढ ध भ व हा नां चान्यतमाक्षरः पंचमवर्गं लभते । यथा खकारस्यो-परिगतोऽकारः पंचमवर्गाक्षरं प्राप्नोति । उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । एवमन्येऽपि । तथा घकारो-ऽप्युत्तरस्वरसंयुक्तः पंचमवर्गाक्षरं [प० १९३,पा० १]लभते । एवं सर्वेऽधरा उत्तरस्वरसंयुक्ताः पंचमवर्गं प्राप्नुवन्ति । अधरस्वरा 'आ ई ऐ औ' एतेषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तः द्वितीय-चतुर्थ-वर्गाक्षराणामधराक्षराणामन्यतमः सप्तमवर्गं प्राप्नुवन्ति(प्नोति) । यथा खकारो अधरस्वरसंयुक्त[:] स[प्तम]वर्गं प्राप्नोति । अधरानुवलितत्वादधरः । एवं छका[प० १९३,पा० २]रोऽधरस्वरसंयुक्त[:] सप्त[म]वर्गं प्राप्नोति । तत्राप्यधरम् । तथाऽधरोऽप्यधरस्वरसंयुक्त[:] सप्त[म]वर्गं प्राप्नोति । तत्राप्यधराक्षरम्(?) । एवं फ र षा इति । तथा घकारः सप्तमवर्गं प्राप्नोत्यधरानुवलितत्वाद-धराक्षरम् ॥ ३२१ ॥

एवं लभंति पढमं(मे), वग्गो सरवंजणेहि संजुत्तो(त्ता) ।
उत्तर-अहराणुवला, लभंति पुव्वावरं वग्गं ॥ ३२२ ॥

यथा प्रथमवर्गे स्तु(स्व)राक्ष[र]संयुक्ता लभंति अक्षरान् तथाभिहितं पूर्वमेव । ते च स्वरा उत्तरानुवलितत्वादुत्तराक्षरं प्राप्नुवंति । [प० १९४,पा० १] अधरानुवलितत्वात् अधराक्षरं प्राप्नुवंतीत्येतदपि पूर्वोक्तं पुनरनेन स्थिरतामापादयता वर्णितम् । पूर्व इत्युत्तराक्षर उच्यते । अपर इति चाधरो भण्यते ॥ ३२२ ॥

उत्तर-अहरसरो वा, लग्गो जो जंमि वंजणे होज्ज ।
उत्तर-अहराणुवला, लभंति तइ(ई)यसरं तत्तो ॥ ३२३ ॥

उत्तरस्वरा(र) इकारः, अधरस्वर ईकार[:] [1]उत्तराक्षरै[र]धरो(?) विलग्न उत्तराक्षरैः उत्तरो विलग्न[:] तस्मात्तृतीयस्वरं प्राप्नोति । इकार[:?] तृतीयस्वर प्राप्नोति ॥ ३२३ ॥

॥ उत्तराधरसंपत्करणं समाप्तम् ॥

---

1 'उत्तराक्षरैरधरो विलग्न, अधराक्षरैरधरो विलग्न' इति भवेत् मूलानुसारेण ।
नि० दा० १०

पढमो तइओ य सरो, पण्हाईए समं ककारेण । [प० १६४,पा० २]
जइ दीसइ सो लस(भ)ए, कवग्गए अक्खरं एक्कं ॥ ३२४ ॥

प्रश्नाक्षराणामादौ ककारस्यावस्थितस्यामतोऽनंतरं यदा प्रथमः स्वरः अकारो दृश्यते तदा अकार[ः] ककारं प्राप्नोति। तृतीयस्वरेण युक्त[ः] सकार आदिस्थितप्रश्नाक्षराणां ककारवर्गादेकमक्षरं लभते। उत्तरानुवलितत्वात् उत्तरम्। एवमन्येऽपि प्रथम-तृतीयवर्गाक्षरा[ः] प्रश्नाक्षराणामादिस्थिता अकारे(रा)मतोऽनंतरमवस्थिता इकारेण वा युक्तः(क्ताः) स्ववर्गाक्षरं लभन्ते ॥ ३२४ ॥

एएहि चेव सहिओ, लहइ खकारो चवग्ग एक्केक्कं ।
तइय-चरिमा [प० १६५, पा० १]सवग्गे, लहइ घकारो टवग्गंमि ॥ ३२५ ॥

प्रथमस्वरेण अकारेणामतोऽनंतरमवस्थितेन इकारेण वा युक्तः खकार[ः] चवर्गादेकमक्षरं लभते। उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम्। तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नां चरिमाणां ङ ञ ण न मा नां अन्यतमोऽक्षरो अकारेऽमतोऽनंतरमवस्थिते इकारेण युक्त[ः] स्ववर्गादेकमक्षरं लभते। उत्तरानुवलितत्वादुत्तरस्य घकारे(र)स्य अकारेऽमतोनंतरमवस्थिते इकारेण वा युक्ते घकार(रः) टवर्गादेकमक्षरं प्राप्नोति उत्तरानुवलितत्वादुत्तरमेवेति । [प० १६५,पा० २]गाथाद्वयस्यापि अर्थं व्याख्याय प्रस्तारेण दर्शने(दर्श्यते) रचना – ख खा(च) खि ग एता एव स्वरौ(?) खकारयुक्तो यदा तदा प्रथमस्वरेण चकारं लभते । तृतीयेन य(ज)कारम् । खकारोऽधरत्वाद् द्वितीयवर्गो(र्गां)माद्दी स्वरानुवलितस्यावक्षरलब्धिः । रचनापूर्वकवर्गो अधस्तात् ख छ खि ज । तथा घकारः प्रथमस्वरः(र) युक्तः टकारं लभते, तृतीययुक्तः डकारं । रचना – घ ट घि ट(ड)। एवं चवर्गादीनां शेषवर्गादीनां च शेषवर्गाक्षराणां लब्धि[ः?]रचनामात्रं दर्शते(दर्श्यते –) चवर्गस्य अ इ युक्तस्य च चा चि ज । अस्याधः – ज जा जि ज । अस्याधः – ञ चा ञि ज । अस्याधः – झ व झि ट(इ) । एवं चवर्ग-टवर्ग-रचना । ट ट टि ड । अस्याधः – ठ त ठि द । अस्याधः – ड ड डि ड [प० १६६,पा० १] अस्याधः – ण ट णि ट । अस्याधः ट प टि थ । तवर्गस्य रचना – त त ति द । अस्याधः – थ प थि प । अस्याधः – द त दि द । अस्याधः – न त नि द । अस्याधः – ध य धि ल । पवर्गस्य – प प पि प । फ य फि ल । ब प बि य । म य मि य । भ श भि श । यवर्गस्य रचना – य य यि ल । अस्याधः – र स रि स । ल ल लि ल । अस्याधः – व क वि ग । शवर्गस्य प्रस्तारः – श श शि श । ष क षि ग । अस्याधः – स स सि स । अस्याधः – ड(ह) क ढि ड(हि ह) । एवं विरच्याक्षरलब्धि रुक्तवद्र(द्)ष्टव्या ॥ ३२५ ॥

सत्तम-णवमेहि समं, लहइ ककारो चवग्ग एक्केकं ।
तइय-चरिमा वि एवं, खटवग्गे घतवग्गे य ॥ ३२६ ॥

प्रश्नादौ ककारः सप्तमेन एकारेण युक्तः नवमेन उ(ओ)कारेण युक्तः चवर्गा[प० १६६,पा० २]देकमक्षरं लभते । तथा तृतीयो गकारः, चरिमो ङकारः, सप्तम-नवम-स्वरयुक्तः चवर्गादेवाक्षरम् । एवमुक्त इति । तथा खकारः सप्तमेन नवमेन वा स्वरेण युक्तः टवर्गादेकमक्षरं उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । तथा घकारः सप्तमेन नवमेन वा स्वरे[ण] युक्तः तवर्गादेकमक्षरं लभते उत्तरानुवलितत्वादुत्तरमिति ॥ ३२६ ॥

सेसाण वि एस कमो, चादीणं अट्ठमा[प० १९७, पा० १]वसाणाणं ।
अहरुवि(व)रि एक्केक्कं, परिहा[य]इ वट्ट(ड्ढ)इ अहरो ॥ ३२७ ॥

प्रस्तारेणास्यार्थो दर्शयितव्यः । शेषाणामप्येष क्रम इति । प्रश्नाक्षराणामादिस्थितस्य ककारस्य चकारस्य वा चकारेण वा ककारस्य युक्तस्य यथावस्थवर्गाक्षरलाभ उक्तः । चादयोऽपि हकारान्ताः सप्त सप्त प्रस्त(स्ता)रेणयुक्ता उकारयुक्ता[:] पूर्ववत्स्ववर्गादेकमक्षरं लभन्ते । उत्तराक्षरोऽधरस्वरयुक्तः परिहीयन्ते(ते) [प० १९७, पा० २] अल्पसंख्यो भवतीत्यर्थः । अधराक्षरोऽधरस्वरयुक्तो वर्द्धते बहुसंख्यो भवतीत्यर्थः । एतच्च विस्तरेण वर्णितमिति नोक्तम् ॥ ३२७ ॥

आकारीकारेहिं, लभइ समेओ ककारो [य] चवग्गे ।
तइय-चरिमादि एवं, लभइ खकारो य-ट-त्तवग्गे ॥ ३२८ ॥

ककारः आकारेण युक्तः चवर्गादेकमक्षरमधरानुवलितत्वाद[प० १९८, पा० १]धरं प्राप्नोति । ककार ईकारेण युक्त[:] टवर्गे अधराक्षरं अधरानुवलितत्वात् । एवं तृतीयगकारः, पंचमङ(ङ्)कारः क्रमेणाकारयुक्तः चवर्गाक्षरं, ईकारेण युक्तः टवर्गाक्षरं अधरं अधरानुवलितत्वात् । टकार आकारेण [युक्तः] टवर्गे अधराक्षरं प्राप्नोति । प(ख)कार इ(ई)कारेण युक्त[:] तवर्गादेकमक्षरं [प० १९८, पा० २] लभते अधरानुवलितत्वाधरम् । एवं द्वितीयवर्गाक्षराः शेषाः एकारेण क्रमेणाकारयुक्तास्तृतीयवर्गाक्षराणि लभन्ते । इ(ई)कारयुक्ताश्चतुर्थवर्गाक्षरं प्राप्नोति (प्नुवन्ति) अधरानुवलितत्वादधरम् । अन्यगाथया अमुमेवार्थं प्रस्तार्यते—ककार आकारयुक्तः ईकारयुक्तश्च क्रमसः(शः) चवर्ग-टवर्गौ लभते । यथा—का च की ट । अस्याधः [प० १९९, पा० १] खकार-थकाररचना—खा द खी थ । अस्याधः—गा च गी ड । अस्याधः चकारः आ(आई)कारयुक्तश्च । त-पवर्गौ प्राप्नुवन्तः (प्राप्नोति) ॥ ३२८ ॥

तदर्थगाथामाह—

त-पवग्गेसु घकारो, दोसु वि एक्केक्कयं लभे कमसो ।
सेसाण वि एस कमो, चादीणं सव्ववग्गाणं ॥ ३२९ ॥

घकार आकारयुक्तः तवर्गादधराक्षरमवाप्नोति । घकार इ(ई)कारेण युक्तः पवर्गादेकमवाप्नोति । क(ङ)कारादयश्चतुर्थवर्गाक्षराः शेषाः पद्र आकारेण युक्ताश्चतुर्थवर्गाक्षरं प्राप्नुवंति । इ(ई)कारयुक्ताः पंचमवर्गाक्षरानधराक्षरा[न्] लभन्ते अधरानुवलितत्वात् । यतोक्तं(थोक्त)क्र-[प० १९९, पा० २]मेण । एवं च चकारादयो हकारान्ताक्षरा आकारेण ईकारेण वा युक्ता यथा प्राप्नुवन्ति वर्गाक्षर(रा)स्तथाभिहत (हि ताः ।) प्रस्तारोऽत्र लिख्यते—अनन्तरस्याधस्तात्—पा थ पी भ । एवं डाकारः चकारं । डी टकारम् । स्थापनादनन्तरस्याधस्तात्—ड च डी ञ । एवमेतौ द्वितीय-चतुर्थमात्रौ शेषवर्गानुस्वारे(सार)तोऽपि वक्तव्यावा(व्यौ या)वत् स्ववर्गे [प० २००, पा० १]इति पूर्वस्या गाथया चवर्गं आद्यांक्रान्तक्रमेणेति ॥ ३२९ ॥

क-च-टादीनां पढमा, चरिमो(मा) य समं ल्हसु (°हं ड्ढु) कारेण ।
लभइ तवग्गे एवं, साणुस्सारे य सविसग्गे ॥ ३३० ॥

ककार(रा) क च ट वर्ग-प्रथमस्य प्रथमम् । आदिशब्दाच्छेषवर्गाणामपि कवर्ग-चवर्ग-टवर्गस्य च प्रथमाः । ककार-चकार-टकारोचे(राश्चे)वम् । एते प्रश्नाशे उकारेण सह दृश्यमानाः

1 'अमारेवार्थः प्रस्तार्यते' अथवा 'अमुमेवार्थं प्रस्तारयति' इति भाव्यम् ।

[प० २००, पा० २] किं लभंत इत्यत आह—पयस ककारा उकारयुक्ताः पकारं लभंते । चकार उकारेण युक्तः यकारम् । टकारः शकारम् । मात्रासंख्यानियमेन शेषवर्गाणामपि चरमः । एषामेव क्रमेण—ङ ञ ण एते उकारयुक्ता एत एव लभते(न्ते) । यथा ङुकार मकार(रं) ञुकार यकारं णुकार सकारं [प० २०१, पा० १] रचना—ङु म ञु य णु श(स) । अस्याधस्तात्—खु प छु र ठु प । अस्याधस्तात्—गु ज । जु ल । डु स । ततः पंचमः—ङु प । ञु य । णु स । अस्याधः चतुर्थः—घु भ । झु व । ढु ह । एवं लब्धिकं(?)ककारवर्गस्य यथा रचना चकारस्यापि टकारस्य च । 'कच टादीनां पढमा चरिमा य समं उकारेणे'ति गाथार्थः [प० २०१, पा० २] व्याख्यातः ॥ 'लभइ तवग्गो' इत्येतत्पदं व्याख्यायते—'त प य म(स)' चतुर्णामेषां वर्णानां लब्धिरर्द्धक्रान्तिन्यायेन यथा तकार-पकार-यकार-शकाराणां उकारसहितानां क्रमेणैव लब्धिः । केषां ? अकार-ककार-चकार-टकाराणां स्थापनात् । अ तु क । पु क । शु ट । अस्या० थु आ । फु ख रु छ षु । ठ । अस्याधः—दु इ । बु ग लु । ज सु ड । अस्याधस्तात्—नु अ । मु ङ । यु ञ् । शु ण । अस्याधः—धु ई । भु घ । वु क । हु ढ । एवं यथा तपयस वर्गाद्यक्षराणां लब्धिक(?) ककारेण सह तथा शेषाणामपि । यथा—उकारेण सह लब्धि[ः]वक्तव्या इति । व्याख्यातमेतत्पदं [प० २०२, पा० १] 'लभति तवर्गो एव'मिति । 'साणुस्सारे य सविसग्गे' इत्यस्य गाथापश्चार्द्धस्य व्याख्या क्र(क्रि)यते—कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाक्षराः ककार-चकार-टकाराः सानुस्वाराः—कं चं टं एते पूर्ववद् यथा उकारसहिता लभन्ते । तद् बिंदुविसर्गाभ्यां अपि । बिन्दोर्युक्तस्योदाहरणम्—ककार[ः] बिन्दुसहितः पकारं लभते, 'चं' इत्येपा(प) प(य)कारम्, 'टं' इत्येप शकारम् । स्थापना—कं प । चं य । टं श । अस्याधः—खं फ । छं र । ठं प । अस्याधः—म ब(गं ब) । जं ल । डं स । अस्याधः—घं भ । झं व । ढं ह । अस्याधः—ङा म ञु ट घ(ङं म । ञं य ।) णं श । उपरं समासाद्यति । अधर-प्यु(स्तु) अधरमेव । सविसर्गोषे(ष्वे)वं यथा—कः प । चः य । टः श । [प० २०२, पा० २] अस्याधः—खः फ । छः र । ष(ठ)ः प । अस्याधः—गः ब । जः ल । डः स । अस्याधः—ङः म । ञः य । णः श । अस्याधः—घः भं । झः व । ढः ह । यथा एषां सानुस्वारस्य (स)-विसर्गक्रमेण लब्धिरुक्ता तथा 'तपयस' इत्येतेषामपि प्रस्तारः—भ(तं) अ । पं क । यं च । सं(शं) ट । अस्याधः—थं आ । पं(फं) ख । । रं छ । [षंठ ।] दं इ । पं(बं) ग । भं(लं) ज । सं ड । अस्याधः—नं अः । मं दः(ङः) । यं ञः । गं(शं) णः । [प० २०३, पा० १] अस्याधः—धं ई । भं घ । वं झ । हं ढ । सविसर्गे(र्गो)ष्वेवं यथा—तः अ । पः क । यः च । सः ट । अस्याधः—थः आ । फः ख । रः छ । षः ठ । अस्याधः—दः इ । पः श । [बः ग] । लः ज । सः ड । अस्याधः—नः अ । मः ङ । यः ञ । सः ण । अस्याधः—धः ई । भः घ । वः झ । हः ढ । सानुस्वार-विसर्गावेतौ† । अथवाऽन्यथा रचनाक्रमेण गुरुरान्(द) ॥ ३३० ॥

† मूलादर्शे सर्वाऽपीयमक्षरस्थापना प्रभ्रष्टपाठालिका उपलभ्यते अतोऽधस्तात् कोष्ठकेषु शुद्धरूपेणैषा प्रदर्श्यते अस्माभि । —संपादकः ।

सानुस्वाराणां कचटानां स्थापना—

१	कं प	चं य	टं श
२	खं फ	छं र	ठं प
३	गं ब	जं ल	डं स
४	घं भ	झं व	ढं ह
५	ङं म	ञं य	णं श

सविसर्गाणां कचटानां स्थापना—

१	कः प	चः य	टः श
२	खः फ	छः र	ठः प
३	गः ब	जः ल	डः स
४	घः भ	झः व	ढः ह
५	ङः म	ञः य	णः श

सानुस्वाराणां तपयशानां स्थापना—

१	तं अ	पं क	यं च	शं ट
२	थं आ	फं ख	रं छ	षं ठ
३	दं इ	बं ग	लं ज	सं ड
४	धं ई	भं घ	वं झ	हं ढ
५	नं अः	मं ङ	यं ञ	शं ण

सविसर्गाणां तपयशानां स्थापना—

१	तः अ	पः क	यः च	शः ट
२	थः आ	फः ख	[illegible] छ	ष ठ
३	दः इ	बः ग	लः ज	सः ड
४	धः ई	भः घ	वः झ	हः ढ
५	नः अ	मः ङ	यः ञ	शः ण

कचया(टा)दीणं पढमो, चरिमो य समं लभंतुकारेण ।
लभइ[प० २०३,पा० २] तव्वग्गे एक्कं, साणुस्सारे य सविसग्गे ॥ ३३१ ॥

'कचटादि' इत्यनेन कचटतपयशा नां प्रथमो वर्गः । तृतीयस्वराः(वर्गाः) गजड दबलसा नो । पञ्चमः ङञणनमाः । एवमेवादिग्रहणं समर्थितं भवति । एते कचटा दयः उकारसहिता यथा–कु चु टु तु पु यु शु । मसो(एते?)धस्तात् पंचमवर्गोत्तरान् लभन्ते यथा–तपय स(श) । अकचट । तृतीया[प० २०४,पा० १]स्तु गजडा दयः उकारसहिता यथा–जु गु(गु जु) डु दु(बु) लु सु । एतेऽपि त्व(स्व)स्मात् क्रमेण पञ्चमो पञ्चमो लभते(?) दबलसगजडदया (डादयः) । अंत्या उकारयुक्ता यथा–ङु ञु णु नु मु । ग(य)वर्ग-शवर्गयोः पञ्चमः क्रथाशब्दः, हिक्काशब्दश्च । प्रश्नकाले तावपि श्रुत्वा पंचमस्य य-सवर्गप्राप्तिर्भवति । यथा–मय यसडु । क्रथ-शब्दः, हिक्काश[प० २०४,पा० २]ब्दश्च । एते सप्त । "कचटादीणं पढमो तइओ चरिमो समं उकारेण लभइ तवग्गे" इत्येतद् व्याख्यातम् ॥ ३३१ ॥

ख-छ-ठादिएहि सहिया, एते उ हवंति छट्ठए वग्गो ।
घ-झ-ढाइएहिं सहिया, सत्तमवग्गो लभे एक्कं ॥ ३३२ ॥

खकार उकारयुक्तः षष्ठे षवर्गेऽक्षरमुत्तरं प्राप्नोत्युत्तरानुवलितत्वात् । छकार उकारयुक्तः शवर्गे उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । ठकार उकारयुक्तः अवर्गे उत्तरानुवलितत्वात् उत्तरस्वरम् । एवं थफरखा(षा)[अ]पि । खकारः अनुस्वारयुक्तः षष्ठे षवर्गे उत्त[प० २०५,पा० १]राक्षरं लभते । स एव सविसर्गो युक्तोऽधरम् । छकारः सानुस्वारः सवर्गे उत्तरमवाप्नोति । थकारः सानुस्वारः अपवर्गे उत्तरं लभते । विसर्गयुक्तोऽधरम् । एवं छकारोऽपि [स]विसर्गयुक्तो यवर्गेऽधरमिति । एवं थफरपा वक्तव्याः । एवं गाथाभागदेशक्त(?भागर्द्धशब्दार्थः ।) 'घझढाइएहिं सहिया' घकारविन्दुविसर्गाः । ध(घ)कार ओ(उ)कारयुक्तः सवर्गे उत्तरं लभते । बिन्दुयुक्तः सवर्गे यवोत्तरं लभते । स एव घकारः विसर्गयुक्तः तत्रैवाधरमिति । एवं ऊ(झ)कार उकारयुक्तः सप्तमे सवर्गे उत्तरानुवलितत्वादुत्तरं, स एव बिन्दुयुक्तः [प० २०५,पा० २] तस्मिन्नेवोत्तरं लभते । विसर्गयुक्तः अधरम् । एवं ढकारोऽपि । एवं च सर्वदा(?भ ध हा) अपि स्वस्मात्सप्तमं वर्गाक्षरं लभन्ते ॥३३२॥

उत्तरवंजणसहि[या], सत्तमवग्गे लभंति सेससरा ।
अहरेहि अ संयु(जु)त्ता, लभंति अहराहरे वग्गे ॥ ३३३ ॥

उत्तराः [प० २०६,पा० १] प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराः परिशिष्टैः स्वरैः 'ऊ ऐ औ' इत्येते-स्त(स्त्रि)भिर्युक्ताः आत्मीयादात्मीया[त्] सप्तम ईकारयुक्तो लभ्यते । प्रश्नाक्षराणामादिस्थितस्य यदाऽग्रतः इकार इकारयुक्तो दृश्यते तदा टकार इका[प० २०६,पा० २]रयुक्तो लभ्यते । प्रश्ना-क्षराणामादिस्थितस्य यदाग्रतः टकार औकारयुक्तो दृश्यते तदा दकारो लभ्यते । अधरवर्गा [अ]-धराधरमक्षरं लभन्ते अधरस्वरयुक्ताः । इत्येष पश्चार्द्धो(र्द्ध)गाथार्थः ॥

अथवाऽस्य(स्या) गाथ(था)या व्याख्या–उत्तरव्यंजनसेषस्वराः 'ऊ ऐ औ' त्रयोऽप्येते उत्तरव्यञ्जनसहिता यथा–कू पू टू तू पू यू शू । ऊकार अवधार्य उत्तरव्यञ्जनसहितो लभते सप्तम(मः) सर्वत(?)वर्गं यथा–शअकचटतप । तथा उत्तरव्यञ्जना येषु वर्गेषु अधरानुवलि-

तत्वादधराक्षरान् । तथा उत्तरव्यञ्जनाः—गूजूडूदूं[प० २०७, पा० १]बूलूसू एषां लब्धि। क्रमेणैव स इ ग ज ड द वाः, एषु वर्गेषु अधरानुवलितत्वादधरं लभन्ते। तथा ङ्मूणूनूमू क्रमस(शः) सप्तमवर्गा यथा क्रमेण चि(चे)त्यधरानुवलितत्वादधरा(र)मिति । ई(ऐ)कार उत्तर-व्यञ्जनसहितः यथा—कै चै टै तै पै यै शै । लब्धिस्तु क्रमसः(शः) एषु वर्गेषु द(त्रि)धा भवति। [† ....]तत्त्वादधराक्षरं। बु। अ क च ट त प। एवं ग ज डा दयोऽपि ऐकारयुक्ता वक्तव्याः। ङ ञ णा दयश्चेति। तथा ऊ(औ)कारयुक्ता उत्तरव्यञ्जनाः। कौ चौ टौ तौ पौ यौ सौ(शौ)। लब्धिस्तु सप्तमवर्गात् अधरानुवलितत्वादधरान्। स क च ट त पाः। एवं ग ज डा दयो ङ ञ णा दयोऽपीति। एवं ऊकार-ऐकार-औकारयुक्ताः अधरा अधरा[न्] लभन्ते। खूछूठूथू फूरूषू । लब्धिस्तूच्यते अधरानुवलितत्वादधरानेव [प० २०७, पा० २] प आ स छ ठ थ फ । तथा, घूझूढूधूभूयूहू। लब्धिरमो वर्गेषु अधरानुवलितत्वादधराधरलब्धिः । ज इ प ह ढ ध भ यथा ऊकारयुक्तास्तथा ऐकारौकारावपि वाच्याविति एवं अधराधरेषु लभते । इत्युक्तो गाथार्थ इति ॥ ३३३ ॥

लभइ ककारो जुत्तो, चकारवग्गंमि तइय-चरिमेण ।

ट[त]वग्गे जइ पण्हे, दसमसरो [प० २०८, पा० १] तइओ यादीए ॥ ३३४ ॥

ककारः प्रश्नाक्षराणामादिस्थिति(त) ईकारेण सानुस्वारेण युक्तः चवर्गादेरमक्षरं लभते। उत्तरमुत्तरानुवलितत्वाल्लभते। प्रश्नाक्षराणामौकारस्यादिस्थस्य यदाग्रत आकारयुक्तो टकारो दृश्यते तदा आकारयुक्तटकार एव लभ्यते। उकारस्यादिस्थितस्य प्रश्नाक्षर(रेषु) यदाग्रतः [प० २०८, पा० २] टकारः इकारयुक्तो दृश्यते तदा टकार एव ईकारयुक्तो लभ्यते। प्रश्नाक्षराणामौकारस्य यदाग्रतः तकारः अकारयुक्तो दृश्यते तदा तकारो लभ्यते। औकारादिस्थस्य यदाऽग्रतः तकार ईकार-युक्तो दृश्यते तदा तीकारो लभ्यते। प्रश्नाक्षराणामादिस्थस्य इकारस्य यथा(दाऽ)ग्रतः तकार आकारयुक्तो दृश्यते तदा तकार आत्मान लभते। प्रश्नाक्षराणामादिस्थस्य इकारस्य यदाऽग्रतः तकार इकारयुक्तो दृश्यते तदा तकारो लभ्यते। औकारस्याग्रतः याकारो यदा दृश्यते तदा [प० २०९, पा० १] याकारो लभ्यते। ओकारस्याग्रतः ईकारो दृष्ट ईकार एव लभ्यते। इकार-स्याग्रतः याकार आत्मानं लभते ॥ ३३४ ॥

बितिय-चउत्थेहि समं, सरेहि सो चेव लभइ त-पवग्गे ।

सत्तम-णवमेहि समं, सेसेहि समं अहरवग्गे ॥ ३३५ ॥

पूर्वार्द्धो अस्य(स्या) गाय(था)या अनन्तरात्रान्तगाथया वर्णितः। प्रश्नाक्षराणामादिस्थस्य इकारस्याग्रतः तोकारं लभते। ओकारस्य प्रश्नादिस्थस्य पकार एकारयुक्तः पेकारं लभते। औकारस्य प्रश्नादिस्थस्याग्रतः पाकार औकारयुक्तः पो(पौ)कारं लभते। इकारस्य प्रश्नादिस्थस्या-[प० २०९, पा० २]ग्रतः इकारः(तकार.) तकारं लभते। इकारस्य प्रश्नादिस्थस्याग्रतः टो(टौ)कारः टोकारं लभते। ईकारस्य प्रश्नादिस्थस्याग्रतः स्थित.[तकारः?] तेकारं लभते। इकारस्य प्रश्नादिस्थ-स्याग्रतः तकारः तोकारं लभते। ईकारस्य प्रश्नादेरग्रतः स्थितस्य [यकारः?] येकारं लभते। इकारस्य प्रश्नादिस्थस्य ॥ ३३५ ॥

---

† अत्रादर्शे कियान् पाठः पतितः प्रतिभाति ।

बितिएण य संजुत्तो, चकारवग्गो लभइ [प० २१०,पा० १] तइयवग्गे ।
प-यवग्गे पुण लभइ, चत्तारिस(म)एण संजुत्तो ॥ ३३६ ॥

चकार एकसंख्याक[कः], ककारोऽप्येकसंख्य एव । ततः संयोगा[द]र्द्धाक्रान्तिकसंज्ञः । कस्मात्? तुल्यसंख्यत्वात्। यथा 'च्क'। स यत्रतत्रस्थः प्रश्ने ष्व(स्व)वर्गान् प्राप्नुतः(प्राप्नोति) । टकारः ककारयुक्तोऽर्द्धक्रान्तिकसंज्ञः यथा 'ट्क' । स यत्रतत्रस्थः प्रश्ने पवर्गं प्राप्नोति । चतुर्थतकारेण युक्तः [प० २१०,पा० २] ककारोऽर्द्धक्रान्तमापन्नो यथोक्तः स यत्रतत्रस्थे(स्थः) प्रश्ने तृतीयवर्गं प्राप्नोतीति ॥ ३३६ ॥

जो अ ककारे गमओ, भणिओ सो चेव तइय-चरिमाणं ।
आइम-तइयाभिहए, लभइ तकारो हु त-पवग्गे ॥ ३३७ ॥

यथा ककारः प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः सवर्गाक्षरं लभते । एवं तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नां, चरि[प० २११,पा० १]माणां ङ ञ ण न मा नां चान्यतमाक्षरप्रश्ने प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः आत्मीयवर्गेऽक्षरमवाप्नोति उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । तकारः प्रथमस्वरेण युक्तः तवर्गेऽक्षरमेकं प्राप्नोति उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । स एव तकारः तृतीयस्वरेण युक्तः पवर्गेऽक्षरमेकमवाप्नोति उत्तरानुवलितत्वाउ(दु)त्तरम् ॥ ३३७ ॥

लभए बीय(इ)यजुत्तो, चकारवग्गो य तइया[प० २११,पा० २]वग्गं च ।
चत्तारिमएण समं, लभइ यकारो पवग्गं उ ॥ ३३८ ॥

चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः टवर्गं प्राप्नोति । यकारश्चतुर्थस्वरेण य(प)वर्गं लभते ॥ ३३८ ॥

जह भेओ उ चवग्गे, तह य कवग्गंमि चेव णायवो ।
एवं चिय दा(ता)दीहिं, सरेहिं भेओ मुणेयवो ॥ ३३९ ॥

यथा चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः तृतीयं वर्गं प्राप्नोति एव्यं(वं) ककारोऽपि द्वितीयस्वरयुक्तो द्वितीयं वर्गं प्राप्नोति । तकार-चकारावप्येवमेव ॥ ३३९ ॥

एमेव सेसयाणं, चादीणं अट्ठमावसाणाणं ।
सरवग्गाण य जोगो, अद्धक्कंतक्कमो होइ [प० २१२,पा० १] ॥ ३४० ॥

एवं यथा प्रथमवर्गः शेषाक्षराणां शकाराष्टमां(ष्टमां०)तानां तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नां चतुःसंख्यानामक्षराणां यः संयोगः सार्ब(?आर्द्ध)क्रान्तिकसंज्ञः । तस्य संयोगस्य अधस्तात् योऽक्षरः स तृतीयवर्गं प्राप्नोति । तुल्यसंख्यस्य स्वरस्याक्षरस्य च यः संयोगः सोऽप्यर्द्धक्रान्तिकसंज्ञः । अः तृतीयवर्गं प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

पण्हाइमसंखाए, सद्दे पण्हक्खरे गुणेऊणं ।
उवरिल्ले पक्खेउं, आइल्ले अट्ठहि विभाए ॥ ३४१ ॥
सेसं वग्गो णामक्खरं होइ ।*
जइ पुच्छइ कं म(स)रं तो, करेज्ज अह[प० २१२,पा० २]च्चरं कमसो ॥३४२॥

* मूलादर्शे अस्या गाथाया एतावदेव पूर्वार्द्धमुपलभ्यते । खण्डितत्वाय इत्यागाति ।

†प्रश्नाक्षरमध्ये उव(प)रिस्वराणां संख्या उपरिमात्रारहितानां च संयुक्ताक्षराणां या उपर्यक्षरसंख्या तामेकीकृत्य पृथग्(क्) स्थापयेत्। परिस(शि)ष्टानां प्रश्नाक्षराणां विद्यमानाधरस्वराणां च या संख्या तामेकीकृत्य स्थापयेत। अ क च ट त प य श वर्गाणां वसु-मुनि-रस-स(श)र-सागरा-ग्नि-यम-चन्द्राः क्रमसो(शो) गुणकारा[ः]। प्रश्नाक्षराणां मात्राद्यक्षर-प्रतिबद्धो गुणाकारः, तेन गुणयित्वा स्थापितां अधोऽक्षरसंख्यामुपरि[प० २१३,पा० १]स्वराक्षरं पृथक् स्थापितां तत्रैव प्रक्षिप्याष्टभिर्भागेऽपहृते लब्धाच्छेषाच द्वौ वर्गौ लभ्य(भ्ये)ते। लब्धवर्गौ यदाधिका(क)स्तदास्ताभिः पुनर्भागे हृते लब्धाच्छेषाश्च(च)द्वौ वर्गौ पुनर्लभ्य(भ्ये)ते। ककारादयो लब्धवर्गाः शेषाश्च ज्ञेयाः ॥ ३४१–३४२ ॥

एमेव सेसवग्गे, णामक्खरपा(या)ण हवइ एकं तु।
जइ इच्छसि तं करणं, करणे(रे)ज्ज अधराधरं तत्तो ॥ ३४३ ॥

तत्र शेषवर्गाल(ल्ल)ब्धवर्गाच एकैकं नामाक्षरं लभ्यते। प्रश्नाक्षराणां निपतितानां मध्ये पूर्वोक्ताधराधरक्रमेणाक्षरमुत्तरमधर वायाद्वा ॥ ३४३ ॥

॥ वर्गाक्षरसंयो[प० २१३,पा० २]गोत्पादनं समाप्तम् ॥

अत्यु(णु)सार-विसग्गविही, ण(णा)यव्वो होइ सव्वओभद्दे(द्दे)।
चउसु वि दिसासु एवं, वग्गे ण(णा)मक्खरुप्पत्ती ॥ ३४४ ॥

सर्वतोभद्र[ः] प्रस्तारमन्तरेण न शक्यते दर्शयितुम्। अनुस्वारविसर्गग्रहणेन शेषस्वराणामपि सूचना कृता। अतो व्यंजनस्वरयोगाच(च)तुर्ष्वपि दिक्षु(क्ष्व)क्षरपातनिकया सुखदुःखलाभालाभजीवितमरणाद्यपि नामाक्षरोत्पत्तिरपीति प्रस्तारेण दर्शे(र्श्ये)त इति सर्वतोभद्रस्य महाकरश(ण)स्य मूलप्रतिबद्धादारस्या(भ्या)वरणपंचदशपर्यन्ति(न्त) न्यासमात्रं [प० २१४,पा० १] पंक्ति पंक्ति(?) लिख्यते। तत्र मूलप्रतिबद्ध अष्टमंडलमध्ये अकार तस्य पूर्वतः एकारः। दक्षिणतः ऐकारः। अपरतः उकारः। उत्तरतः ओकारः। द्वितीयवर्गे पूर्वादिगादि अ क च ट प य श। तृतीयावरणे दक्षिणादि आ ख छ ठ थ फ र ष। चतुर्थे अपरादि इ ग ज ड द ब ल स। पंचमे उत्तरादि ई घ झ ढ ध भ व ह। भूयः षष्ठावरणे पूर्वादि आदित्य-भौम-शुक्र-बुध-गुरु-शनि-चन्द्र-राहु-पर्यन्ता ग्रहाः। सूर्यो(र्य)भौमायु(त)रे पुनर्वसु-पुष्या-श्लेषा। भौमशुक्रान्तरे मघा फाल्गुनीद्वयं च। शुक्रे हस्तः। शुक्रबु[प० २१४,पा० २]धान्तरे चित्रा स्वाति विशाखा। बु[ध]गुरा(रुस्व)न्तरे अनुराधा ज्येष्ठामूलानि। गुरुसनैश्चरांतरे आषाढाऽभिजित्श्रवण। बृहस्पत्योपरि पूर्वाषाढाः। सनैश्चरांतरे धनिष्ठा शतभिषा पूर्वभाद्रपदा। चन्द्रोपरि उत्तराभाद्रपदा। चन्द्रराहु न(अ)न्तरे रेवती अश्विनी भरणी चेति। राहुसूर्योन्तरे कृतिका [प० २१५,पा० १] रोहिणी मृगसिरश्चेति। सूर्योपरि आर्द्रा। एतत् षष्ठावरण पूर्वदिगादितः ॥

मेष क ख ग घ ङ। वृषः च छ ज झ ञ। मिथुन वृषोपरि म(ग?)कारः। जकारोपरि मिथुनः। दक्षिणस्या कर्कटकः। ततः ट ठ ड ढ ण डकारस्योपरि सिंहः। त थ द ध न दकारस्योपरि कन्यः(न्या)। अपरदिसा(शा)यां तुल्यः(ला)। प फ ब भ म [प० २१५,पा० २]पकार-

† त्रुटितोऽत्र कियान् पाठ, इति प्रतिभाति।

स्योपरि वृश्चिक। य र ल व पंचमोऽयं कुंथशब्दो लकारोपरि धनुः। उत्तरतो मकरः। श ष स ह पंचमोऽयं हिंकृतः शब्दः शकारोपरि कुम्भः। क ख ग घ ङ गकारोपरि मीनः। एवं सप्तमावरणम्। अष्टममिदानीं—पूर्वादितः क च छ ज झ ञ। ञ ट ठ ड ढ ण। च त थ द ध न। प फ ब भ म। द य र ल व। श ष स ह। त क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। एवा(वम)ष्टमम्। नवमं इदानीं—पूर्वादितः च ट ठ ड ढ ण। य त थ द ध न। प फ ब भ म। ञ य र ल व। त श ष स ह। क क ख ग घ ङ। प च छ ज झ ञ। च ट ठ ड ढ ण। दशममिदानीम्—ट त थ द ध न। श प फ ब भ म। स य र ल व। क श ष स ह ञ। प क ख ग घ ङ। च च छ[प० २१६,पा० १]ज झ ञ। य ट ठ ड ढ ण। फ त थ द ध न। एकादश(म)मिदानीं—त प फ ब भ म। क य र ल व। प श ष स ह। ञ श क ख ग घ ङ। ज च छ ज झ ञ। ञ प ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। क प फ ब भ म। द्वादश[म]मिदानीम्—प य र ल व। श ष स ह ञ। प क ख ग घ ङ। ट च छ ज झ ञ। श ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। फ प फ ब भ म। प य र ल व। त्रयोदश[म]मिदानीम्—य श ष स ह। ट क ख ग घ ङ। श च छ ज झ ञ। त ट ठ ड ढ ण। क त थ द ध न। प फ ब भ म। ब य र ल व। य श ष स ह ञ। चतुर्दश[म]मिदानीम्—श अ, क आ, ख इ, ग ई, घ उ(ऊ?), ञ उ(ऊ?), ब ए, ष ए(ऐ), छ उ(ओ), ज ऊ(औ), झ अं, ञ अः। क अ, ट आ, ठ इ, द(ड) ई, ढ उ, ण ऊं(ऊ), प ए, ब ऐ, प ओ, द औ, ध अं, न अः। च[अ], प आ, फ इ, ब ई, [प० २१६,पा० २] भ उ, म ऊ, य ए, र ऐ, ब उ(ओ), ल ऊ(औ), ब अं, ह अः। द अ, [श] आ, [श] इ, स ई, ह उ, ख ऊ(ऊ), ग ए, क ऐ, ख उ(ओ), ग अ(औ), घ अं, गः(ङ) अः। पंचदश[मं]पूर्वादितः अ क च ट त प य श। ए। ऐ ख छ ठ थ फ र ष। आ। इ ग ज ड द ब ल स। ओ। औ घ झ ढ ध भ व ह। ई। अ क च ट त प य श। ए। आ ख छ ठ थ फ र ष। ऐ। इ ग ज ड द ब ल स। ई घ झ ढ ध भ व ह। औ। एवं पंचदशावर्ण(रण)पर्यन्तोऽयम् ॥ ३४४ ॥ [प० २१७,पा० १]

॥ सर्वतोभद्रः समाप्तः ॥

सर्वतोभद्र इति प्रहरि(ऋ)क्षराद्यक्षरविधानेन येन केनचिद् यथाविस(श)मायातस्यादेस्यो(श्या)क्षराण(णि) च प्राप्नोति। अन्यत्र विधानं इति। मंगलार्थं च इह लिखितमिति ॥ छ॥

कंठंतरिओ वि उरो, उ(प?)रभारं(वं?) सो न गच्छए मोत्तुं।
अवसेसंति(समंत?)रिओ पुण, आइल्लमणंतरं पावे ॥ ३४५ ॥

'अ इ ए उ' एते कंठ्याः। एतेषामन्यतमो[प० २१७,पा० २] इकारस्ये(स्य) प्रश्नाक्षरादिस्थस्य यदाऽग्रतः सदा इकार एव लभ्यते। 'अ इ ए उ' एतेषां कंठ्यानां अन्यतमादिस्थस्य 'आ ई ए ऊ ऐ औ अं अः' एतेषां अपरिशिष्टस्वराणां अन्यतमो यदाऽग्रतः स्थितमेवाद्यमन्यतरं सदा कंठ्या(ठ्य)स्वरं लभते ॥ ३४५ ॥

उक्कारादिसु एवं, पढमंतरिओ ण एइ परभावं।
अभिहमं(म्मं)तो पुरओ, आदिच्च(ल्ल?)मणंतरं लभइ ॥ ३४६ ॥

उकारस्य इकारस्य प्रथमस्य प्रश्नाक्षरादिस्थस्य यथाऽग्रतोऽनंतरं ककारः प्रथमो दृश्यते यदा इकार एव लभ्यते। इकार(रे) ककारेणालिंगिते आदिस्थो [प० २१८,पा० १] इकार एव लभ्यते। उकारस्य कंठ्यसंयोगकरणम् ॥ ३४६ ॥

†......................तीस भायए सदा कालं।
जं सेसं सा हु तिही, वोच्छं णक्खत्तकरणं से॥
लद्धाओ जा तिथीओ, या(हीणा) रूपेण कण्ण(ण्ह)पक्खस(स्स)।
मुक्कं पि दोहि भाए, माससनामादिरिक्खगणं॥

, सर्वदा प्रश्नकालिनी छाया राम(श)यो द्वादश होरेति पचदशाना सख्या प्रश्नाक्षरश्च। सर्वमेतदेकीकृत्य त्रन्स(त्रिंश)त्पचगुणाक्षेप.। वर्तमानतिथियुक्त च कृत्वा शेष गतार्थः॥अन्य(ना?)दर्शमेतत्॥

पढमो विसमो उ सरो, वितिओ य समो तइज्जओ सम्मो।
विसमसमो य चउत्थो, सेसा एवं सरचउक्का॥ ३४७॥

प्रश्नाक्षराणामादिस्थो गकारो विष[म] इति इकारयुक्त गकारमेव लभते। प्रश्नाक्षरादिस्थो घकार स ईकारयुक्तो घकार एव लभते। दकारो विषम उकारयुक्तो दकार एव लभते॥ ३४७॥

एवं समवग्गाणं, चउक्कया विसमवग्गयाणं च।
णायव्वा णंतरओ, विसमा [प० २१९, पा० १] विसमाण संजोए॥ ३४८॥

समस्वरे[ण] युक्तसमाक्षरस्तमेव लभते। विस(ष)मस्वरेण युक्तो विषमाक्षरो लभ्यते। एवं सर्वे ककारादयो हकारान्ता समस्वरे(रै)र्युक्ताः समाक्षरास्तमेव लभन्ते। विषमस्वरैर्युक्ता विषमाक्षरास्त एव लभ्यन्ते॥ ३४८॥

समसंजोएण समो, लभइ अ विसमो य विसमसंजोए।
वग्गे दिट्ठो एसो, भणिओ वग्गक्खरवि[प० २१९ पा० २]भाओ॥ ३४९॥

समस्वरयोगे व्यजन सम लभ्यते। स्वर च विषमस्वरसयोगे उत्तरत्वाद् विषमाक्षरो लभ्यते। स्वरश्च विषम एव प्रायु[द]र्थ। ततोऽक्षरस्वरविभागे लब्धिरिति॥ ३४९॥

॥ संकट-विकटं समाप्तम्॥

वग्गक्खरा तिपु(गु)णिया, खेवो पढमक्खरस्स वग्गंमि।
तिसु चउसु अधो अट्ठे, तंमि य णा[म]क्खरं वग्गे॥ ३५०॥

प्रश्नाक्षराः। एव वर्गाक्षराः। प्रश्नाक्षराणा विद्यमानस्वराणा या सख्या तामेकीकृत्य त्र(त्रि)गुणा कृत्वा प्रश्नाक्षराणा ककारादीना हकारान्ताना अन्यतमादौ दृष्टा पूर्वत्र(त्रि)गुणितपिंडात् पचं प्रक्षिप्य ये ककारादीना हकारान्ताना [प० २२०, पा० १]प्रश्नाक्षराणामन्यतमादौ दृष्टे तस्मिन्नेव सत्या पिंडाख्या चतुरक्षिप्यास्ताभिर्भागेऽपहृते शेषे वकारादिवर्गो लभ्यते। लब्धानां पुनः सप्तभिर्भागे पल(यस्)ञ्च यच शेष तयोः ककारादिवर्गो लभ्यते॥ ३५०॥

अक्खरसरिसा जोणी, मत्तासरिसं च जाणए रूवं।
एवं सेण विभत्ते, वग्गेण निरुत्तिओ भेओ॥ ३५१॥

---

† अस्या गाथाया एष पूर्वार्द्धं खण्डितरूपेण उपलभ्यतेऽत्रादर्शे। परं अग्रे ८५ तमे पृष्ठे इय गाथा अखण्डात्मिका पुनर्लिखिता लभ्यते। आदर्शान्तरभेदेनैव पुनरुक्तिरत्र आभा सम्भाव्यते।

जीव-धातु-मूलाक्षरैः पूर्वोक्तैर्जीवधातुमूलयोनिनिर्देशकार्यः(र्यैः?) मानाभिर्द्रष्टव्यम्। रूपं शुक्लं कृष्णं पीतं रक्तादि। लक्षणं दीर्घमस्रं वृत्तं इति। जीव-धातु-मूलोत्तरावरैः पंचभिर्भेदः प्रश्नाक्षराणां निरूपयितव्यो वर्गप्रतिबन्धः ॥ ३५१ ॥ [प० २२०, पा० २]

पढम-तइए य चरिमा, वग्गा पासंडिया तहा भणिया।
सेसा य अपासंडी, णिद्दिट्ठा पण्हइत्तेहिं ॥ ३५२ ॥

प्रथम-तृतीय-पंचमवर्गाणां अन्यतमबहुले प्रश्ने पाखंडिनो ज्ञेयाः। के ते ? प्रव्रजिताः अरहन्तादयः आजीविकादयश्च। शेषाणां द्वितीय-चतुर्थ-वर्गाक्षराणां अन्यतमाधिके प्रश्ने अपाखंडिनो ज्ञेयाः। [प० २२१, पा० १] अपाखंडिन इति गृहस्था मण्यन्ते ॥ ३५२ ॥

पढमो वग्गो पासंदाहिण (दाहिणपासं?) विइ(ई)य एव चउत्थे य।
रा(वा)मं तइए मज्झं, दो पासे पंचमं जाण ॥ ३५३ ॥

प्रथमवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने तैरेव प्रथमवर्गाक्षरैरनभिहतैर्दक्षिणपार्श्वे पुरुषस्य लांछनं ज्ञेयम्। अनभिहतैः स(श)स्त्रप्रहार इति। द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराणामन्यतमबहुले [प० २२१, पा० २] प्रश्ने तैरेव द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरैरनभिहते वामपार्श्वे लांछनं प्रलेतव्यम्। अभिहतैस्तैरेव शस्त्रैः प्रहारादिकम् ॥ ३५३ ॥

पढमसरे सिरभागं, णिडालयं होइ तह कवग्गंमि।
चिबुयं[च] चवग्गंमि, गिवप्पएसो टवग्गंमि ॥ ३५४ ॥

प्रथमस्वरग्रहणेन अवर्गो गृह्यते। तेन सिरो ज्ञेयः। कवर्गे निडालं। चवर्गे[प० २२२, पा० १] चिबुकं। टवर्गे ग्रीवाप्रदेशा(शः) ॥ ३५४ ॥

हियये च तवग्गंमि, कडिय पवग्गंमि होइ नायव्वा।
ऊरू [य] यवग्गंमि, जाणु पव(ए)तो सवग्गंमि ॥ ३५५ ॥

तवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने हृदयं ज्ञेयम्। पवर्गबहुले प्रश्ने कटी ज्ञेया। ज(य)वर्गबहुले ऊरू ज्ञेयौ। जाणु(नु)पादौ सवर्गबहुले ॥ एवं अष्टविभागांगकल्पना। [प० २२२, पा० २] पंच(एवं?)-प्रदेशभागकल्पनार्थः(र्थमाह?) ॥ ३५५ ॥

सीसो य अवग्गंमि, णिडालदेसो तहा कवग्गंमि।
अच्छी य चवग्गंमि अ, णासा हु तहा टवग्गंमि ॥ ३५६ ॥

यदभिहितं अवर्गबहुले प्रश्ने शिरो ज्ञेयः, तस्येदानीमवयवा[न्] तैरेव वर्गाक्षरैराह— अवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने मूर्द्धजाः प्रलेतव्याः। [प० २२३, पा० १] कवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने ललाटं ज्ञेयम्। चवर्गबहुले प्रश्ने लोचने। टवर्गे नासिका ॥ ३५६ ॥

वक्कं होइ तवग्गे, अहरोट्ठा तह पवग्गए भणिया।
चिबुयं च [य]वग्गंमि, होइ य गीवा शवग्गंमि ॥ ३५७ ॥

तकारा(वर्गा)धिके वक्त्रम्। पवर्गाधिके ओष्ठौ। यवर्गे चिबुकः। शवर्गे ग्रीवा इति ॥ ३५७ ॥

एतेसु पए[प० २२३ पा० २]सेसुं, एतेमि अभिहएहि वग्गेहिं ।
मसयं तिलयं सत्थ-क्खयं च कमसो वियाणाहि ॥ ३५८ ॥

सिर(शिरः)प्रभृतयो ये प्रदेशा यैरक्षरा(रै)रुक्ताः तैरनि(न)भिहतैः अधिकैः प्रश्ने(श्ने) स प्रदेशो निरुपद्रवो वक्तव्यः । अभिहतैरुपद्र(द्र)वयुक्तः । घचा(?शस्त्रा)भिघातस्त्र(स्त्रि)विधः । तत्र तैर्वर्गाक्षरैरालिंगितैः मस(श)कं तिलकं च वक्तव्यम् । अभिधूमितैर्माद्मणं(?र्मणं) दग्धैस्तु स(श)स्त्रप्रहारः तत्र प्रदेशे वक्तव्यः ॥ ३५८ ॥

भणिएहि वयणदेसे, वग्गेहि य अभिहएहि जाणिज्जा ।
मसय-तिलयाइ सव्वं, चिण्हं गुरुप(ज्झप्प)एसेसु ॥ ३५९ ॥

वदने यानि[प० २२४, पा० १] चिह्नानि अभिह(हि)तानि तैरभिहतैरक्षरैस्तानि मशकतिलकादीनि गुह्यप्रदेशे ज्ञेयानीति ॥ ३५९ ॥

॥ अक्षरविभागप्रकरणमंगस्य ॥

सत्तम-णवमो य रवी, चंदो वि य होइ पढम-तइएणं ।
भोमो बीय-चउत्थे, पंचम-छट्ठो य ससिसुओ भणिओ ॥ ३६० ॥

सप्तमस्वर एकारः, नवम उ(ओ)कारः । एतौ सूर्यस्य । चन्द्रः प्रथम-तृतीयैः 'अ इ' । भौमो द्वितीय-चतुर्थैः 'आ ई' । बुधः 'उ ऊ' ॥ ३६० ॥

एक्कारस सूरसुओ, जीवो दसमे य अट्ठमे सुक्को ।
बारसमो वि य राहू, एते सरसामिया भणिया ॥ ३६१ ॥

अं शनिः । औ गुरुः । शुक्र ऐ । अः [प० २२४, पा० २] राहुः । स्वराणां सा(स्वा)मित्वं महाख्यातं तन्नामप्रतिबद्धवस्तूपचयापचयोदया-स्तमन-जया जयोत्पातादिना ज्ञेयाः ॥ ३६१ ॥

॥ स्वरक्षेत्रभवनम् ॥

रवि-भोम-सुक्क-बुह-गुरु-सणि-यं(चं)दो राहु अट्ठमो एते ।
अ क च ट त प य श वग्गाण होंति खेत्ताहिवा णिययं ॥ ३६२ ॥

अ क च ट त प य श वर्गाणां ग्रहाः क्षेत्राधिपा उक्ताः । तत्प्रतिबद्धाक्षरवस्तुग्रहैः अस्तमिता(मना)दिह्रासवृद्धिर्ज्ञेया इति ॥ ३६२ ॥

पण्हक्खरसत्तमु(गु)णं, तिहिसहियं उ(ओ)मरत्तपरिसुद्धं ।
मत्त(?सत्ते)हि भागसेसे, सुजा(ज्जा)इ[प० २२५, पा० १]गहा मुणेयव्वा ॥३६३॥
सुन्नं छएण वा (च?)उरो, तिण्णि य दो तह य रूवमिक्कं तु ।
सूरादीणं एते, उमा(ऊसा?) संझा तहा कमसो ॥ ३६४ ॥

दिनकरानयनम् ॥ ३६३-३६४ ॥

छाया रासी होरा, पण्हक्खरयं च होइ तीसगुणं ।
पक्खो वा तिण्णि सया, सट्ठासतिहि(?) तं सव्वं ॥ ३६५ ॥

तीसगुणं काऊणं, सीया(तीसा)ए हायए सया कालं ।
जं सेसं सा उ तिही, वोच्छं णक्खत्त-करणं से ॥ ३६६ ॥
लद्धाइ(ओ) जा तिहीओ, हीणा रूवेण कण्हपक्खस्स ।
सु(मु?)कंमि(पि?) दोहिं च भवे, मासस्स नामरिक्खगणं ॥ ३६७ ॥

सर्वदा प्रश्नकालिनी छाया राश(श)यो द्वादश । होरेति पंचदशानां संज्ञा । प्रश्नाक्षरश्च । [प० २१५,पा० २][सर्व?]मेतदेकीकृत्य त्रत्सता(त्रिंशता)गुणा शून्यक्षेपः ३६० वर्तमानातिथि-युक्तं च कृत्वा । शेषं गतार्थम् । अनादर्थ(र्शे?)मेतत्तिथी(थि)नक्षत्रकांडम् ॥ ३६५–३६७ ॥

गंधव्वाह(इ) अवग्गे, दिट्ठे विज्जाहरा कवग्गंमि ।
पमाहाहा(?) [च]वग्गंमि, णागय(?) य(ट)वग्गमिति ॥ ३६८ ॥
[इयं गाथा अस्पष्टार्था । न चास्या व्याख्यालेशो लभ्यते । —संपादकाः ।]
जक्खा य [त]वग्गंमि, देवा भणिया तहा पवग्गंमि ।
णागा य यवग्गंमि, भूया जाणे सवग्गंमि ॥ ३६९ ॥

तवर्गाधिके प्रश्ने यक्षा । पवर्गाधिके देवा । यवर्गाधिके नागा । स(श)वर्गाधिके भूताः ॥ ३६९ ॥

पेया य षवग्गंमि, जाण सकारे य तह पिसाया य ।
कोहंडा य हकारे, एवं जाणिज्जा[प० २२६,पा० १]णुक(क्क)मसो ॥ ३७० ॥

ख(ष)काराधिके प्रश्ने प्रेताः । सकाराधिके पिशाचाः । हकाराधिके कुष्मांडाः ॥ ३७० ॥

अणुणासिएसु असुरा, णायव्वा यं(अं)मि दीसए जंमो ।
सविसग्गंमि अकारे, जक्खा सुणया य संजोए ॥ ३७१ ॥

अनुनासिकबहुले असुरा । आ(अं)कारः सानुस्वारः, तदधिके प्रश्ने यमो ज्ञेयः । अकारः सविसर्गः, तदधिके प्रश्ने यक्षा ज्ञेयाः । संयोगाक्षराधिके प्रश्ने स्वा(श्वा)नरूपिणो यक्षा ज्ञेयाः ॥ ३७१ ॥

एएहि अक्खरेहिं, जाणसु अभिघाइएसु मरणं तु ।
जो(जा) जस्स देवया अक्ख[र]स्स तेणेव सा भणिया ॥ ३७२ ॥

यस्य यस्य देवताविशेषस्य येऽक्षराः पूर्वाभिहितास्तैरद्दि(रभिह)तैस्तस्मात् तस्मात् देवता-विशेषात् सकाशा(शा)न्म[प० २२६,पा० २]रणमपि ज्ञेयम् ॥ ३७२ ॥

पढमय-बीय(बि-तिय)चउत्थो, पंचमवग्गो य तह य णायव्वो ।
वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय अक्खरा कमसो ॥ ३७३ ॥

प्रथमवर्गाधिके प्रश्ने वातिका व्याधिरादेश्या(श्या) । द्वितीयवर्गे पैत्तिका । तृतीयवर्गे श्लेष्मा । चतुर्थवर्गाक्षराधिके प्रश्ने सान्निपातः । पञ्चमवर्गाक्षराधिके प्रश्ने क्षयो व्याधिरादेश्यः । प्रष्टुरन्यस्य वा यं व्याधिकृत्पृच्छतीति ॥ ३७३ ॥

पणयालसयं अट्ठुत्तर च दोट्ठावग्गाहिवुव(घ?)रासी ।
अवसा(से)साणं छण्हं, एक्कोत्तरिया हवइ विट्ठी(द्धी) ॥ ३७४ ॥

पूर्वोदिष्टस्य प्रादक्षण्येन वुघजा(?)विन्यस्य प्रश्नाक्षरसहित कृत्वा गुणयेत् ॥ ३७४ ॥

पंच य सत्त य णव तेरसे य अट्ठादसमे य सोलसय ।
बत्तीसं तिचीसं, जाणसु गुणकार रासीओ ॥ ३७५ ॥

पूर्वोदितः प्रश्ना सहिता गुणका(?) यथास्थितप्रश्न[व]दिक्चक्र गुण्य सोधनिका यथास्व विशोधयेत् ॥ ३७५ ॥

पंचगतिगछसत्तट्ठमा य ते होंति सोहणा कमसो ।
घय धूमे(म) सीह साणा, वसहंमि पुक्कितिया एते ॥ ३७६ ॥
णियव(?णगय)क्खरमि जाणे, सोहणय चोदसे तु वाणि(?) ।
पण्णरसगए भरिया, सोल्सढके वियाणाहि ॥ ३७७ ॥
एसो [सो] सखेवो, भणिओ जिणभासिओ समासेण ।
जाव य णिट्ठइ णामं, लाभालाभेसु सव्वेसु ॥ ३७८ ॥

एष स. उपेन प्रकारेण सात्त्विकाय पुरुषाय बुद्धिबल ज्ञात्वा, ने(नै)वदमव्यापि(य) नास्तिके(का)याभक्तपानया(नाय) अकुलपुत्राय जात्यादा(द)नात्मसपन्नाय देयम् । गुरुशुश्रूषकाय ज्ञानवते धार्मिकाय देयमिति । जिनप्रहणपरिज्ञानार्थं छव यो यन्नामाक्षरैरक्षरैः लाभालाभादि स सर्वं वक्तव्य प्रश्ने [इ]ति ॥ ३७६–३७८ ॥

॥ प्रश्नव्याकरणं समाप्तम् ॥

॥ सवत् १३३६ वर्षे चैत्र शु० १ ॥ इति सपूर्णम् ॥



ज्ञानदीपकाख्यं

चूडामणिसारशास्त्रम् ।



नमिऊण जिणं सुरअणचूडामणिकिरणसोहियपयजुयलं ।
इय चूडामणिसारं कहिय मए जा(ना)णदीवक्खं ॥ १ ॥

जिनमर्हंतं सुरगणचूडामणिकिरणशोभितपादयुगलं नत्वा इदं चूडामणिसारं ज्ञानप्रदीपाख्यं मया कथ्यत इति ॥ १ ॥

पढम-तईय-सत्तम-रंधसरा पढम-तईयवग्गवण्णाइं ।
आलिंगियाइं सुहया उत्तर-संकडअणामाइं ॥ २ ॥

अ इ ए ओ एते प्रथम-तृतीय-सप्तम-नवमाश्चत्वारः, तथा क च ट त प य श ग ज ड द ब ल सा एते प्रथम-तृतीय[वर्ग]चतुर्दशवर्णाश्च आलिंगिताः, सुभगाः, उत्तराः, संकटनामकाश्च भवन्तीति ॥ २ ॥

कुच-जुग-वसु-दिस-सरआ बीय-चउत्थाइं वग्गवण्णाइं ।
अहिधूमिआइं मज्झा ते उण अहराइं वियडाइं ॥ ३ ॥

आ ई ऐ औ एते द्वितीय-चतुर्थाष्टम-दशमाश्चत्वारः स्वराः, तथा ख छ ठ थ फ र षाः घ झ ढ ध भ व हाः एते द्वितीय-चतुर्थवर्गाणां चतुर्दशवर्णाः अभिधूमिताः, मध्यास्तथा उत्तराधरा विकटाश्च भवन्तीति ॥ ३ ॥

सर-रिउ-रुद्द-दिवाअर-सराइं वग्गाण पंचमा वण्णा ।
दड्ढाइं वियड-संकड-अहराहर-असुहणामाइं ॥ ४ ॥

उ ऊ अं अः एते पंचम-षष्ठिका एकादशम-द्वादशमाश्चत्वारः स्वराः, तथा ङ ञ ण न मा इति वर्गाणां पंचमा वर्णाः दग्धाः विकटसंकटा अधरा अशुभनामकाश्च भवन्ति ॥ ४ ॥

सव्वाण होइ सिद्धी पण्हे आलिंगिएहि सव्वेहिं ।
अहिधूमिएहिं मज्झा णासइ दड्ढेहिं सयलेहिं ॥ ५ ॥

प्रश्ने आलिंगितैः सर्वैः सर्वेषामेव सिद्धिर्भवति,-[अभिधूमितैर्मध्या सिद्धिः] दग्धैः सर्वैः सिद्धिर्नश्यति ॥ ५ ॥

उत्तरसरसंजुत्ता उत्तरआ उत्तरुत्तरा हुंति ।
अहरेहिं उत्तरतमा अहरा अहरेहिं णायव्वा ॥ ६ ॥

उत्तरसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता उत्तरसंज्ञका एव वर्णा उत्तरतमा भवन्ति । तथैव अधराधरसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता उत्तरसंज्ञका अधरसंज्ञकाश्च भवन्तीति ॥ ६ ॥

अहरसरेहिं जुत्ता ते दड्ढा हुंति अहरअहरतमा ।
कज्जाइं साहंति सुअ(इ)रं अधमा अधमाइं किं बहुणा ॥ ७ ॥

अधरसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता दग्धा वर्णा अधराधरतरसंज्ञका भवंति । ते च सुचिरकालेन अधमाधमानि कार्याणि साधयन्ति किंबहुनेति ॥ ७ ॥

दड्ढसरेहिं जुत्ता दड्ढतमा हुंति दड्ढया वण्णा ।
ते णासयंति कज्जं बलाबलं मीसयेसु सयलेसु ॥ ८ ॥

दग्धसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता दग्धसंज्ञका वर्णा दग्धतमसंज्ञका भवन्ति तेषां बलत्वाग्निः-फलं भवति ॥ ८ ॥

आलिंगिएहिं पुरिसो महिला अहिधूमिएहिं सद्देहिं ।
दड्ढेहिं होइ संढो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं ॥ ९ ॥

आलिंगितैर्वर्णैः प्रश्ने पतितैः पुरुषो भवति । अभिधूमितैः स्त्री । दग्धैर्नपुंसकमिति जानीतेति ॥९॥

जइ वग्गाण य वण्णा पढम-बीय-तीय-चउत्थ-पंचमया ।
तह विप्प-राय-वयसा सुद्दो विय संकरा य सयलाइं ॥ १० ॥

यदि वर्गाणां वर्णाः प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पंचमकाः, तदा विप्र-राजन्य-विट्-शूद्राः, अपि च संकरजातयः सर्वे एव भवन्तीति ॥ १० ॥

एदेहिं वण्णेहिं कमेण बालो कुमारओ तरुणो ।
मज्झिमवयो वि थविरो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं ॥ ११ ॥

तथा एतैरेव वर्णैः प्रश्ने पतितैः क्रमेण बालः कुमारस्तरुणो मध्यमवया वृद्धश्च भवतीति जानीहि ॥ ११ ॥

आलिंगिएहिं विट्ठी मज्झा अहिधूमिएहिं सा होइ ।
दड्ढेहिं णत्थि विट्ठी जिणवयणं सच्चियं जाण ॥ १२ ॥

आलिंगितैर्वृष्टिः, अभिधूमितैर्मध्यमा वृष्टिः, दग्धे नास्ति वृष्टिरिति जिनवचनं सत्यमेव जानीहि ॥ १२ ॥

अइउप्पज्जइ सस्सं पण्हे आलिंगिएहिं वण्णेहिं ।
अहिधूमिएहिं किंचण णासइ दड्ढेहिं णो चित्तं ॥ १३ ॥

अतिशयेनोत्पद्यते सस्यं प्रश्ने आलिंगितैर्वर्णैः, अभिधूमितैः किंचिदुत्पद्यते, दग्धैर्नश्यति, अत्र नो चित्रमिति ॥ १३ ॥

संपदिकालं पण्हे वण्णो आलिंगिओ पयासेइ ।
अहिधूमिओ वि भूअं दड्ढो उण भाविय णूणं ॥ १४ ॥

प्रश्ने आलिंगितो वर्णः सम्प्रतिकालं प्रकाशयति । अभिधूमितोऽपि भूतम् । दग्धः पुनर्भाविकालं नूनमिति ॥ १४ ॥

तह पढम बीय तइआ वण्णा वुचंति तिण्णि कालाइं ।
मा इत्थ करह भंती जहसंखं सयलवग्गाणं ॥ १५ ॥

तथा समस्तवर्गाणां प्रथम-द्वितीय-तृतीयवर्णाः यथासंख्यं त्रीन् कालान् ब्रुवन्ति। अत्र मा भ्रांतिं प्रकुरुतेति ॥ १५ ॥

आलिंगिएहिं मुक्कइ वाहिं अहिधूमिएहिं ण हु रोई ।
अहवा चिरेण कट्ठं दड्ढो मरणं पयासेइ ॥ १६ ॥

आलिंगितैर्व्याधिं रोगी मुंचति, अभिधूमितैर्न मुंचति, अथवा चिरेण कष्टात् मुंचति, दग्धश्च मरणमेव प्रकाशयति ॥ १६ ॥

विसमा दाहिणपासे वामे य वणं समा य पयडंति ।
वण्णा पण्हे पडिया पंचमया बेवि पासंमि ॥ १७ ॥

प्रश्ने पतिता विषमाः प्रथम-तृतीयवर्णा दक्षिणपार्श्वे तथा समाः द्वि-चतुर्थौ वर्णाः वामपार्श्वे पंचमका वर्णाः उत्तरपार्श्वे व्रणं प्रकाशयन्ति ॥ १७ ॥

अट्ठ सिरो-मणि-वयण-हियय-कडि-उरु-जाणु-चरणजुयलेहिं ।
पण्हविलग्गा वग्गा वणाइं दरिसंति जहसंखं ॥ १८ ॥

अष्टौ वर्गाः प्रश्नविलग्नाः यथासंख्यं शिरोललाटवदने[षु] तथा हृदय-कटि-ऊरु-जानु-चरण-युगलेषु व्रणा निदर्शयन्ति ॥ १८ ॥

अणिलय-पित्तय-सेफय-संसग्गय-आहिघायथं रोगं ।
पयडंति पंचवग्गा जहसंखं पढम उद्दिट्ठा ॥ १९ ॥

प्रथमोद्दिष्टाः पंचवर्गाः यथासंख्यं अनिलजं पित्तजं श्लेष्मजं संसर्गजं अभिघातजं रोगं प्रकटयन्ति ॥ १९ ॥

अइमंद-मज्झ-दारुणपीडाइं दिंति पण्हपडिआइं ।
आलिंगियाहिधूमियदड्ढा वण्णा जहासंखं ॥ २० ॥

आलिंगिताभिधूमितदग्धा वर्णाः प्रश्नपतिता यथासंख्यं अत्यन्तमन्दमध्यदारुणां पीडां प्रकटयन्तीति ॥ २० ॥

आलिंगिएहिं संधी ण हु संधी विग्गहे(हो) ण अहरेहिं ।
अहराहरेहिं कहिओ समरो सुहडाण णासयरो ॥ २१ ॥

आलिंगितैः संधिर्भवति, अधरैर्न च संधिर्न च विग्रहः, अधराधरैः संग्रामः सुभटानां नाशकर इति ॥ २१ ॥

विजयं उत्तरवण्णो ण जयं ण पराजयं त्रि अहरेहिं ।
अहराहरो पयासइ पराजयं णत्थि संदेहो ॥ २२ ॥

उत्तरो वर्णो विजयं प्रकाशयति, अधरो वर्णो न जयं न पराजयं, अधराधरश्च पराजयमेवेत्यत्र नास्ति संदेहः ॥ २२ ॥

जइ पढमक्खरमहरं अवसाणे उत्तरक्खरं पण्हे ।
ता उत्तरो सुबलिओ विवरीओ ताण विवरीयं ॥ २३ ॥

जयपराजयप्रश्ने यदा प्रथमाक्षरमधरं अवसाने च उत्तरमक्षरं भवति तदा उत्तरो बली भवति ॥ २३ ॥

पढमसरेण य जुत्ता पण्हे मत्ताविवज्जिया वण्णा ।
अणभिहिअणामआ दे पअडंति य जीवचिंताइं ॥ २४ ॥

प्रथमस्वरेण युक्ता अन्यमात्राविवर्जिता वर्णाश्च ते प्रश्ने अनभिहितनामका भवंति ते च जीवचिंतां प्रकटयन्ति ॥ २४ ॥

ससि-तइअ-पंच-सत्तम-नवमसरा रुद्दसंखसरसहिया ।
क-च-टा पंचमहीणा सहिया य-स-हेहिं जीवक्खरा[1] ॥ २५ ॥

प्रथम-तृतीय-पंच-सप्तम-नवमाः स्वराः एकादशस्वरसहिताः, तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाः पंचमहीनाः, यकार-शकार-हकारसहिता एते एकविंशतिवर्णाः जीवाख्या भवन्तीति ॥ २५ ॥

बीओ छट्ठो सरओ सविसग्गो तह व-सक्खरोपेओ ।
तह उण पंचमहीणा त-पवग्गा धाउणामा उ ॥ २६ ॥

द्वितीयः षष्ठः स्वरः, सविसर्गः, तथा वकार-सकारोपेतः, तथा पुनस्तवर्गः पवर्गः पंचमहीन एते त्रयोदशवर्णा धातुनामका भवन्ति ॥ २६ ॥

ई ऐ औ सरजुत्ता र-ल-पा ङ-ञ-ण-न-माइं वण्णाइं ।
एआरह मूलक्खा पयासिया जिणवरिंदेण ॥ २७ ॥

चतुर्थाष्टमदशमस्वरयुक्ता र-ल-पकारा ङ-ञ-ण-न-माश्चेत्येकादश वर्णा मूलाक्षरप्रकाशका भवंतीति । एतेनैतदुक्तं भवति लाभप्रश्ने धातुलाभः, मूलाक्षरैर्जीवलाभः, धात्वक्षरैर्जीवाक्षरैर्मूललाभ इति नात्र कार्या विचारणा ॥ २७ ॥

मुट्ठीजीवक्खरए मूलं जीवं वि मूलअक्खरए ।
धाउं उण जाणिज्जह धाउक्खरएण किं चोज्जं ॥ २८ ॥

मुष्टौ जीवाक्षरैर्मूलं ज्ञातव्यम्, जीवं च मूलाक्षरैः, धातुं धात्वक्षरैरेवेति किमित्याश्चर्यमिति ॥ २८ ॥

बहुपढमवग्गवण्णा अह बहुबिंदू विसग्गसंजुत्ता ।
बहुवन्ना जइ पण्हे ता सुन्नं मुट्ठिचिंताइं ॥ २९ ॥

प्रश्ने यदि बहवः प्रथमवर्गवर्णा भवन्तीति, अथवा बहुबिंदुविसर्गसंयुक्ता भवन्ति, अथवा प्रश्ना एव बहवो भवन्ति तदा मुष्टिचिन्तायां शून्यं भवति ॥ २९ ॥

---

1 प्र० जीवक्खरा ।

विसमसरा ऊआरो वग्गाणं पढम-तइयवण्णाइं ।
दुप्पय-णराण एसा एआहाराण णहु होइ ॥ ३० ॥

विषमस्वराः प्रथम-तृतीय-पंचम-सप्तम-नवमेकादशमाः, तथा ऊकारश्च, तथा वर्गाणां प्रथम-तृतीयवर्णाश्च एते द्विपदेषु नराणां वर्णाः, एतदाहाराणां राक्षसानां न भवन्तीति ॥ ३० ॥

बीओ दसमो सरओ वग्गाणं बीयवण्णया सयला ।
दिसंति जइअ पण्हे ता मुणह चउप्पयं जीवं ॥ ३१ ॥

यदि प्रश्ने चतुर्थोष्टद्वादशः स्वरो भवति, तथा वृश्चिकादीनां जातिं दृष्टिं च व्याघ्रादिकं तं तवर्गवर्णो वदति, तथा वर्गाणां चतुर्थो वर्णाश्च तदा चतुष्पादा जीवा भवन्ति ॥ ३१ ॥

जइ वग्गाण य वण्णा पंचमया हुंति पण्हपडियाइं ।
ता मुणह णरअवासिय भूअपिसाचाइं सव्वाइं ॥ ३२ ॥

यदि वर्गाणां पंचमा वर्णाः प्रश्ने पतन्ति भवन्ति, तदा नारकवासिनो भूतपिशाचाश्च सकलान् जानीतेति ॥ ३२ ॥

मत्ता त-पवग्गेहिं य-शवग्गेहिं हुंति सउणा य ।
सिद्धा सरेहिं भणिया देवा उण क-च-टवग्गेहिं ॥ ३३ ॥

तवर्ग-पवर्गाभ्यां मर्त्याः, यवर्ग-शवर्गाभ्यां शकुनाः, स्वरैः सर्वैरेव सिद्धाः, देवाः पुनः कवर्ग-चवर्ग-टवर्गैर्भवन्तीति ॥ ३३ ॥

चवइ कवग्गो पण्हे लद्धो थलचारियं विहंगमयं ।
तं चिअ अइप्पहाणं[2] तवग्गओ णत्थि संदेहो ॥ ३४ ॥

प्रश्नलब्धः कवर्गः स्थलचारिणं विहगमं वक्ति । तमेव स्थलचारिणं विहंगमं अतिप्रधानं मयूरादिकं तवर्गो वक्तीति संदेहो नास्ति ॥ ३४ ॥

जइ अ चवग्गो लद्धो तह पक्खी[3] होइ जलयरो णूणं ।
तं पि टवग्गो सिट्ठं चवइ पवग्गो गुहसयंधं[4] ॥ ३५ ॥

यदि चवर्गो लब्धः तदा जलचराः पक्षिणो भवन्ति । नूनं तमपि जलचरं पक्षिणं श्रेष्ठं हंसादिकं टवर्गो वक्तीति । अधमं (अन्धं ?) च गुहाश्रयं उलुकादिकं पवर्गो वक्तीति ॥ ३५ ॥

पण्हे कवग्गवण्णा कालोरय-सिंगिणो पयासंति ।
राजीवसप्पजाई चवग्गवण्णा य दंतत्थं ॥ ३६ ॥

प्रश्ने कवर्गवर्णाः कालोरगाश्च शृंगिणश्च वृषभादीनि प्रकाशयन्ति । राजीवसर्पजातिं शंखचूडादिकं दंतार्थं च हस्तिप्रभृतिकं चवर्गोवर्णाः प्रकाशयन्तीति ॥ ३६ ॥

---

१ प्र० मुणह । २ प्र० अइप्पमाण । ३ प्र० पक्खी । ४ प्र० चवइ पवग्गो सअधमं ।

गोणाससप्पजाई टवग्गवण्णा फुडं पयासंति ।
लहुअविसाणं जाई दिट्ठीणं होई तवग्गवण्णेहिं ॥ ३७ ॥

गोनसो सर्पजातिं टवर्गवर्णाः स्फुटं प्रकाशयन्ति । लघुकविषाणां जंतूनां वृश्चिकादीनां जातिं दृष्टिं च व्याघ्रादिकं च तवर्गो वर्णो वदति ॥ ३७ ॥

विसमच्छ-दाहि(ढि ?)दुंदुहि-कीडविसेसाइं किं चुज्जं ।
जइ किर लद्धो पण्हे पवग्गओ पण्हचउरेण ॥ ३८ ॥

यदि प्रश्नचतुरेण प्रश्ने पवर्गो विलब्धस्तदा विषमत्स्यान् शृंगिकाप्रभृतीन् दंष्ट्रान् मकर-नक्रप्रभृतीन् दुंदुभिप्रभृतिकीटविशेषान् वक्ति अत्र किमाश्चर्यमिति ॥ ३८ ॥

ससि-जलण-बाण-मुणि-गह-रुद्द-सरा वग्गाण दु-तीयवण्णा य ।
वुच्चंति धम्मधाउं अधमं चिय सेससरवण्णा ॥ ३९ ॥

प्रथम-तृतीय-पंचम-सप्तम-नवमैकादशमाः स्वराः, तथा कवर्गादिसप्तवर्गाणां द्वितीयवर्णाश्च धाम्यधातुं वदन्तीति ॥ ३९ ॥

रवि-रुद्द-पक्खसरओ पंचमहीणा कवग्गवण्णा य ।
कणयं चवन्ति तारं सत्तमवग्गो मुणिंदुसरओ य ॥ ४० ॥

द्वादशैकादशम-द्वितीयस्वराः पंचमहीनाः कवर्गवर्णाश्च कनकं वदन्ति । रजतं च सप्तमो वर्गः तथा सप्तमः प्रथमः स्वरश्चेति ॥ ४० ॥

तंबं[2] च तइओ सरओ पंचमहीणो चउत्थओ वग्गो ।
लोहं दसमो सरओ अट्ठमवग्गो मकारो य ॥ ४१ ॥

ताम्रं तृतीयस्वरः पंचमहीनः चतुर्थो वर्गश्च, लोहं दशमस्वरः तथाष्टमो वर्गो मकारश्च वदति वचनपरिणामेन पूर्वतो न वर्तत इति ॥ ४१ ॥

वंगं तइओ वग्गो पंचमहीणो कवग्गपंचमओ ।
अट्ठम-पंचमसरओ पण्हे लद्धो पयासेइ ॥ ४२ ॥

वंगं त्रपु पंचमहीनस्तृतीयो वर्गः, तथा कवर्गपंचमो वर्णश्च, तथाऽष्टमः पंचमः स्वरः प्रश्ने लब्धः प्रकाशयतीति ॥ ४२ ॥

छट्ठसरो एकंतो पंचमवण्णो[4] अ तईयवग्गस्स ।
जइ पाविज्जइ पण्हे ता णूणं सीसअं मुणहे ॥ ४३ ॥

षष्ठस्वर एकाकी तथा तृतीयवर्गस्य पंचमो वर्णश्च यदि प्रश्ने प्राप्यते तदा नूनं सीसकं कथयन्ति ॥ ४३ ॥

न-प-फ-म-मा उ वण्णा पण्हे लद्धा कुणंति पित्तलयं ।
ण-त-था द-धा इ-आरा कंसं ण हु अत्थि संदेहो ॥ ४४ ॥

---

१ प्र० धास° । २ प्र० तम । ३ प्र० तइ म° । ४ प्र० °वग्गो वि । ५ प्र० मणए ।

नकार-पकार-फकार-[मकार]-भकारस्तथा ऊकारश्च एते प्रश्ने लब्धाः पित्तलकं कथयन्ति । णकार-सकार-थकार-दकार-धकार-इकारश्च एते कांस्यं कथयन्ति । तथा अत्र न खलु संदेहोऽस्तीति ॥ ४४ ॥

कणयक्खरं पयासइ मरगयमाणिक्कपहुईरयणाइं ।
मुत्ताहीरयपहुइं तारक्खरयं णे संदेहो ॥ ४५ ॥

कनकाक्षरं मरकतमाणिक्यप्रभृतिरत्नानि प्रकाशयति, ताराक्षरं च मुक्ताहीरकप्रभृतिकं प्रकाशयति ॥ ४५ ॥

कक्करतालयपहुदिं [तं]वक्खरयं [च] भणइ णो चित्तं ।
लोहक्खरेहिं जाणह रयणाइं इंदनीलपहुदीणि ॥ ४६ ॥

ताम्राक्षरः तालकप्रभृतिं भणति नात्र चित्रम्, लोहाक्षरैश्च इंद्रनीलप्रभृतीनि रत्नानि जानीतेति ॥ ४६ ॥

कंसक्खरं पयासइ रयणऽसेसाइं काचपहुदीणि ।
सेसं सीसयपहुदिं पित्तलसीसाइ अक्खरयं ॥ ४७ ॥

कंसाक्षरं काचप्रभृतीनि रत्नविशेषाणि प्रकाशयति । शेषं पित्तलसीसकाद्यक्षरं शीशकप्रभृतीनि रत्नविशेषं प्रकाशयति ॥ ४७ ॥

उत्तरवण्णपहाणं पण्हे गढियं पयासए णिच्चं ।
धाउमगढिअं अहरं अक्खरयं भणइ सच्चमियं ॥ ४८ ॥

प्रश्ने उत्तरवर्णाः प्रथममक्षरं नित्यं घटितं धातुं प्रकाशयति । अधरमक्षरं अघटितं धातुं भणतीति सत्यमिदम् ॥ ४८ ॥

आलिंगिएहिं जाणह कंकणकेऊरपहुदि आहरणं ।
अहरक्खरेहिं गढिअं कच्चोलयपहुति भायणयं ॥ ४९ ॥

घटिते धातोर्लब्धे सति पुनरपि प्रश्ने आलिंगिताक्षरैः घटितं केयूरप्रभृतिकमाभरणकं भवतीति । अधराक्षैरघटितं कच्चोलकप्रभृति भाजनं भवति ॥ ४९ ॥

उत्तरवण्णपहाणं पण्हे दरिसेइ अहिणवाहरणं ।
अहरक्खर अपहाणं उवभुत्तं णत्थि संदेहो ॥ ५० ॥

आभरणे प्राप्ते सति पुनरन्यप्रश्ने उत्तरवर्णप्रधानं प्रथममभिनवाभरणं दर्शयति । अधराक्षरैरप्रधानं च उपाभरणं दर्शयतीति नास्ति संदेहः ॥ ५० ॥

सवे उत्तरवण्णा भवंति सुरलोअलोअणाहरणं ।
अहरक्खराइ णूणं माणवलोयस्स जंतूणं ॥ ५१ ॥

पुनरन्यप्रश्ने सर्व एवोत्तरवर्णाः सुरलोकानामाभरणं ब्रुवन्ति । अधराक्षराणि मानवलोकस्य द्विपदचतुष्पदजंतूनामाभरणं ब्रुवन्ति ॥ ५१ ॥

१ प्र० °पहुदि । २ प्र० णत्थि । ३ प्र० सर्व च ।

दुप्पयवण्णा पण्हे दुप्पअजंतूण चवइ आहरणं ।
सो वि णर-णारयाणं विहगाणं विहगवण्णेहिं ॥ ५२ ॥

पुनरन्यप्रश्ने द्विपदवर्णा द्विपदजंतूनामाभरणं ब्रुवन्तीति । विहगवर्णाश्च विहंगानामाभरणं ब्रुवन्ति ॥ ५२ ॥

जइ य चउप्पयवण्णा पण्हे लद्धाइं हुंति पउराइं ।
मा करहु इत्थ भंती जाणिज्ज चउप्पयाहरणं ॥ ५३ ॥

पुनरन्यप्रश्ने यदि चतुष्पदवर्णाः प्रश्ने लब्धाः प्रचुरा भवंति तदा मा भ्रांतिं कुरुत चतुष्पदाभरणं जानीतेति ॥ ५३ ॥

दिस-कुच-वेयट्ठमया सरया दरिसंति उद्धआहरणं ।
ससि-तिय-गह-सत्तमया मज्झंगे सेस अद्धाणं ॥ ५४ ॥

दशम-द्वितीय-चतुर्थाष्टमकाः स्वराः ऊर्द्धदेहाभरणं दर्शयन्ति । प्रथम-तृतीय-नवम-सप्तमकाश्च मध्यदेहाभरणं दर्शयंति ॥ ५४ ॥

आहरणाण य वण्णा संसिट्ठा हुंति जई य त-पउरा ।
ता तं रयणणिवद्धं भायणयं ताण वण्णेहिं ॥ ५५ ॥

यथाभरणानां वर्णाः संश्लिष्टाः संवद्धाः तवर्गप्रचुरा भवन्ति तदाऽऽभरणं रत्ननिवद्धं भवति, भाजनवर्णैश्च संवद्धैर्भाजनं रत्ननिवद्धं भवति ॥ ५५ ॥

जइ पउरउत्तरद्धं ता रयणं सुद्धजाइयं मुणहु ।
तं अहरक्खरवद्धं कित्तिमयं मीसिए मिस्सं ॥ ५६ ॥

यदि ततः प्रचुरोत्तराधरसंबंधे......कृत्रिमजातिमिश्रितं च इतः ज्ञास्यतेति ॥ ५६ ॥

उत्तम-मज्झिम-अधमा हुंति य णाणा तहा जहासंखं ।
आलिंगियाहिधूमियदड्ढयपत्तेहिं पण्हेहिं ॥ ५७ ॥

तथा आलिंगिताभिधूमितदग्धके प्राप्ते प्रश्ने उत्तममध्यमाधमानि नाणकानि टंककानि शिवांकादिकानि यथासंख्यं भवन्तीति ॥ ५७ ॥

पढमं तरूण वण्णा तह ससि-गहसंमिओ सरो चेव ।
क-च-टादुआण(? °ण दुइय)वण्णा दसमओ दुज्वो सरो वेवि ॥ ५८ ॥

क-च-टादिवर्गाणां सप्तानां प्रथमो वर्णस्तथा प्रथम-नवमस्वरश्च एते नववर्णाः तरूणामाम्रादीनां साधकाः, कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां च द्वितीयवर्णाः ख-छ-ठास्तथा दशम-द्वितीयौ स्वरौ च एते पंच वर्णा लतानां द्राक्षादीनां वाचका इति ॥ ५८ ॥

रिउ-बाण-रुद्दसरओ पंचमवण्णा तिणाइ जंपंति ।
सेसदुइज्जा वण्णा वल्लीं वग्गाण चत्तारि ॥ ५९ ॥

षष्ठ-पंचमैकादशस्वराः, तथा वर्गाणां कवर्गाणां सप्तानां पंचमाश्च वर्णास्तृणानि दूर्वादीनि जल्पन्ति । शेषा द्वितीया वर्णाः चत्वारि तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्णां वल्लीनां धूलीप्रभृतिकां जल्पन्ति ॥ ५९ ॥

अट्ठम-चउअं तिसरा चउत्थवण्णेण ठाइआ तिण्णि ।
जंपंति ख-छ-ठ-फाओ जाइविसेसाइं गुम्माइं ॥ ६० ॥

कवर्गादिसप्तवर्गाणां चतुर्थवर्णेन स्थापिताश्चतुर्थाष्टमांतिमास्त्रयः स्वराः ख-छ-ठ-फा जातिविशेषान् गुल्मान् जल्पन्ति ॥ ६० ॥

ग-ज-डेहिं होंति य लया सालादि सत्तमसरेहिं गहिएहिं ।
गहिएहिं दवलसेहिं प(ध ?)ण्णापहुदीनि जाणेह ॥ ६१ ॥

कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां तृतीयवर्णेन भवन्ति तृतीय-सप्तमाभ्यां स्वराभ्यां शालादिकान् वृक्षान्, तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्णां तृतीये वर्णे गृहीते धान्यकादीन् जानीतेति ॥ ६१ ॥

जल-साहारण-जंगलदेसपभूयं चवंति भूरुहयं ।
आलिंगिय-अहिधूमिय-दड्ढयवण्णा जहासंखं ॥ ६२ ॥

जलसाधारणं जांगलदेशप्रभूतं भूरुहं यथा जलजं कमलोत्पलादिकं जांगलजं करीरकरमर्दादिकं तानेतान् यथासंख्यं आलिंगिताभिधूमिता वर्णा ब्रुवन्तीति ॥ ६२ ॥

तरवो हुंति असोया संणिहिया उत्तरेहिं वण्णेहिं ।
अधरसरेहिं अधमा पण्हे पडिएहिं दूरट्ठा ॥ ६३ ॥

उत्तराक्षरैरशोकाद्यास्तरवः प्रत्यासन्ना भवन्ति । अधराक्षरैरधमा वृक्षाः सर्वत्र शाखोटकादयो दूरस्था भवन्ति ॥ ६३ ॥

संजुत्त-असंजुत्ता जहाकमं लद्ध[पण्ह]वण्णेहिं ।
फलियाफलिया तरुणो केवलिनाणेण भासंति ॥ ६४ ॥

संयुक्ता असंयुक्ता लब्धाः प्रश्नवर्णाः यथाक्रमं फलिताफलितान् तरून् केवलिकाज्ञानेन भाषन्ति इति ॥ ६४ ॥

तह दिवस-मास-पक्खय पुणो वि मासे वि तह य वच्छरए ।
जहसंखं लाहसुहं एसु य सयलेसु वग्गेसु ॥ ६५ ॥

एषु सर्वेषु वर्गेषु कवर्गादिसप्तस्वपि वर्गेषु एकद्वित्रिचतुःपंचमके वर्णे तस्मिन्नेव दिवसे लाभसुखादिकं चिन्तितं भवति । सर्वैर्द्वितीयवर्णैर्मासे उद्भवति, सर्वे तृतीयवर्णे पक्षे उद्भवति, सर्वे चतुर्थवर्णे पुनर्मासे एव उद्भवति, सर्वे पंचमवर्णे संवत्सरे उद्भवति ॥ ६५ ॥

उत्तरवण्णपहाणो उत्तरअयणं[1] पयासए पण्हे ।
अहरक्खरेसु[2] पण्हे दक्खिणअयणं णो[3] संदेहो ॥ ६६ ॥

---

१ प्र० उत्तरायणं । २ प्र० अधराक्षरपहाणं । ३ प्र० दक्खिणायणं णत्थि ।

उत्तरवर्णप्रधानप्रश्नः उत्तरायणं प्रकाशयति । अधराक्षरप्रधानश्च दक्षिणायनं प्रकाशयति अत्र नास्ति सन्देहः ॥ ६६ ॥

पढमक्खरेण सिसिरो महु वि तहा बीयएण वण्णेण ।
तीयक्खरेण गिम्हो चउत्थेण य पाउसो होइ ॥ ६७ ॥

कवर्गादिसप्तवर्गाणां प्रथमाक्षरेण प्रश्नप्राप्तेन शिशिरः, तथा द्वितीयवर्णेन मधुर्वसंतः, तृतीयाक्षरेण ग्रीष्मः, चतुर्थाक्षरेण प्रावृट् भवति ॥ ६७ ॥

सत्तमसरेहिं सरओ कहिओ अणुणासिएहिं हेमंतो ।
अं अ [ः ?] इ उ अक्खरयं पयासियं जिणवरिंदेण ॥ ६८ ॥

सप्तमस्वरे शरत् कथितः, अनुनासिके हेमंतः । इदं सप्ताक्षरं जिणवरेंद्रेण प्रकाशित-॥ मिति ॥ ६८ ॥

होइ च-टेहिं चित्तो वेसाहो होइ ग-ज-डवण्णेहिं ।
जिट्ठो वि द-ब-ल-सेहिं ई ओ घ-झ-ढेहिं आसाढो ॥ ६९ ॥

चवर्ग-टवर्गयोः प्रथमाक्षराभ्यां चैत्रो भवति । तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां तृतीयाक्षरै-र्वैशाखो भवति । तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां तृतीयाक्षरैर्ज्येष्ठो भवति । चतुर्थ-दशमस्वराभ्यां तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां चतुर्थाक्षरैरापाढो भवति ॥ ६९ ॥

णहु होइ ध-भ-व-हेहिं सर-रिउसर ङ-ञ-णेहिं भद्दवओ ।
ए ऊ बिन्दु-विसग्गा सेसयवण्णेहिं आसिणओ ॥ ७० ॥

तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्थाक्षरैर्नभः श्रावणो भवति । पंच-षड्भ्यां स्वराभ्यां क-वर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां पचमाक्षरैर्भाद्रपदो भवति । अनुस्वार-विसर्गाभ्यामाश्विनो भवतीति ॥ ७० ॥

तह त-प कत्तिकमासो कहिओ पढमेहिं दोहिं वण्णेहिं ।
य-शवण्णेहिं वि दोहिं मियसरणामो य मासो य ॥ ७१ ॥

तवर्ग-पवर्गयोः प्रथमाक्षराभ्यां द्वाभ्यां तथा पुनः कार्तिको मासः कथितः, यवर्ग-शवर्गयोः प्रथमवर्णाभ्यां द्वाभ्यां मार्गशीर्ष नामधेये मास कथित इति ॥ ७१ ॥

आ ई ख-छ-ठेहिं सहो थ फ-र-षवण्णेहिं होइ तह माहो ।
फग्गुणमासो ससि-मुणिसरएहिं तह कवग्गेण ॥ ७२ ॥

द्वितीय-चतुर्थाभ्यां स्वराभ्यां तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां द्वितीयाक्षरैः सह पौषो मासो भवति । तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां द्वितीयवर्णैस्तथा माघो भवति । प्रथम-सप्तमस्वराभ्यां कवर्गस्य प्रथमाक्षरेण फाल्गुनमासो भवतीति ॥ ७२ ॥

दो तिन्नि पंच अट्ठा पंच य अट्ठा य तह य दो तिन्नि ।
चारिक्क सत्त छक्का सत्त च्छक्का य चारिक्का ॥ ७३ ॥

॥ इति जिनेन्द्रकथितं प्रश्नचूडामणिसारशास्त्रं समाप्तम् ॥

*